॥ श्रीहरिः ॥

770▲

अमरताकी ओर

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

अमरताकी ओर

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरि: ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत पुस्तकमें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके नौ लेखोंका संग्रह है। पारमार्थिक रुचिवाला प्रत्येक साधक इनका अध्ययन-मनन करके मृत्युसे ऊँचा उठकर अमरता प्राप्त कर सकता है। परन्तु साधकका उद्देश्य अनुभव करनेका होना चाहिये, कोरी बातें सीखनेका नहीं। सीखा हुआ ज्ञान अभिमान बढ़ानेके सिवाय और कुछ काम नहीं आता। अत: पाठकोंसे निवेदन है कि वे अनुभव करनेके उद्देश्यसे इस पुस्तकका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-मनन करें और अपना मानव-जीवन सार्थक करें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

१. अमरताका अनुभव

मनुष्यमात्रके भीतर स्वाभाविक ही एक ज्ञान अर्थात् विवेक है। साधकका काम उस विवेकको महत्त्व देना है। वह विवेक पैदा नहीं होता। अगर वह पैदा होता तो नष्ट भी हो जाता; क्योंकि पैदा होनेवाली हरेक चीज नष्ट होनेवाली होती है—यह नियम है। अतः विवेककी उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत जागृति होती है। जब साधक अपने भीतर उस स्वतःसिद्ध विवेकको महत्त्व देता है, तब वह विवेक जाग्रत् हो जाता है। इसीको तत्त्वज्ञान अथवा बोध कहा जाता है।

मनुष्यमात्रके भीतर स्वतः यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। जैसे, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है। यहाँ शंका होती है कि जो अमर है, उसमें अमरताकी इच्छा क्यों होती है? इसका समाधान है कि अमर होते हुए भी जब उसने अपने विवेकका तिरस्कार करके मरणधर्मा शरीरके साथ अपनेको एक मान लिया अर्थात् 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा मान लिया, तब उसमें अमरताकी इच्छा और मृत्युका भय पैदा हो गया।

मनुष्यमात्रको इस बातका विवेक है कि यह शरीर (स्थूल,

सूक्ष्म तथा कारणशरीर) मेरा असली स्वरूप नहीं है। शरीर प्रत्यक्ष रूपसे बदलता है। बाल्यावस्थामें जैसा शरीर था, वैसा आज नहीं है और आज जैसा शरीर है, वैसा आगे नहीं रहेगा। परन्तु मैं वही हूँ अर्थात् बाल्यावस्थामें जो मैं था, वही मैं आज हूँ और आगे भी रहूँगा। अतः मैं शरीरसे अलग हूँ और शरीर मेरेसे अलग है अर्थात् मैं शरीर नहीं हूँ—यह सबके अनुभवकी बात है। फिर भी अपनेको शरीरसे अलग न मानकर शरीरके साथ एक मान लेना अपने विवेकका निरादर है, अपमान है, तिरस्कार है। साधकको अपने इस विवेकको महत्त्व देना है कि मैं तो निरन्तर रहनेवाला हूँ और शरीर मरनेवाला है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें शरीर मरता न हो। मरनेके प्रवाहको ही जीना कहते हैं। वह प्रवाह प्रकट हो जाय तो उसको जन्मना कह देते हैं और अदृश्य हो जाय तो उसको मरना कह देते हैं। तात्पर्य है कि जो हरदम बदलता है, उसीका नाम जन्म है, उसीका नाम स्थिति है और उसीका नाम मृत्यु है। बाल्यावस्था मर जाती है तो युवावस्था पैदा हो जाती है और युवावस्था मर जाती है तो वृद्धावस्था पैदा हो जाती है। इस तरह प्रतिक्षण पैदा होने और मरनेको ही जीना (स्थिति) कहते हैं। पैदा होने और मरनेका यह क्रम सूक्ष्म रीतिसे निरन्तर चलता रहता है। परन्तु हम स्वयं निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हैं। अवस्थाओंमें परिवर्तन होता है, पर हमारे स्वरूपमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। अतः शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ—इस विवेकको महत्त्व देना है।

गीतामें आया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।'

जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नये कपड़े धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीरको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते। तात्पर्य है कि शरीर मरता है, हम नहीं मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पुण्य-पापका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्ति किसकी होगी?

शरीर नाशवान् है, इसको कोई रख सकता ही नहीं और हमारा स्वरूप अविनाशी है, इसको कोई मार सकता ही नहीं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

(गीता २। १७)

अविनाशी सदा अविनाशी ही रहेगा और विनाशी सदा विनाशी ही रहेगा। जो विनाशी है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। हमने कुर्ता पहन लिया तो क्या कुर्ता हमारा स्वरूप हो गया? हमने चादर ओढ़ ली तो क्या चादर हमारा स्वरूप हो गयी? जैसे हम कपड़ोंसे अलग हैं, ऐसे ही हम इन शरीरोंसे भी अलग हैं। इसलिये हमारे मनमें निरन्तर स्वतः यह बात रहनी चाहिये

कि मैं मरनेवाला नहीं हूँ, मैं तो अमर हूँ—'**अमर जीव मरे सो काया**' जीव अमर है, काया मरती है। अगर इस विवेकको महत्त्व दें तो मरनेका भय मिट जायगा। जब हम मरते ही नहीं तो फिर मरनेका भय कैसा? और जो मरता ही है, उसको रखनेकी इच्छा कैसी? हमारा बालकपना नहीं रहा तो अब हम बालकपनेको लाकर नहीं दिखा सकते; क्योंकि वह मर गया, पर हम वही रहे। अतः शरीर सदा मरनेवाला है और मैं सदा अमर रहनेवाला हूँ—इसमें क्या सन्देह रहा? अब केवल इस बातका आदर करना है, इसको महत्त्व देना है, इसका स्वयं अनुभव करना है, कोरा सीखना नहीं है। जैसे धन मिल जाय तो भीतरसे खुशी आती है, ऐसे ही इस बातको सुनकर भीतरसे खुशी आनी चाहिये और जीनेकी इच्छा तथा मरनेका भय नहीं रहना चाहिये! कारण कि जिस बातसे हमारा दुःख, जलन, सन्ताप, रोना मिट जाय, उसके मिलनेसे बढ़कर और क्या खुशीकी बात होगी! ऐसा लाभ तो करोड़ों-अरबों रुपयोंके मिलनेसे भी नहीं होता। कारण कि अरबों-खरबों रुपये मिल जायँ और पृथ्वीका राज्य मिल जाय तो भी एक दिन वह सब छूट जायगा, हमारेसे बिछुड़ जायगा—

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवे किहि काज॥

हम शरीरमें अपनी स्थिति मान लेते हैं, अपनेको शरीर मान लेते हैं तो यह हमारी गलती है। गलत बातका आदर करना और सही बातका निरादर करना ही मुक्तिमें खास बाधा है। अपनेको शरीर मानकर ही हम कहते हैं कि मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ,

मैं बूढ़ा हूँ। वास्तवमें हम न बालक हुए, न हम जवान हुए, न हम बूढ़े हुए, प्रत्युत शरीर ही बालक हुआ, शरीर ही जवान हुआ, शरीर ही बूढ़ा हुआ। शरीर बीमार हो गया तो मैं बीमार हो गया, शरीर कमजोर हो गया तो मैं कमजोर हो गया, धन पासमें आ गया तो मैं धनी हो गया, धन चला गया तो मैं निर्धन हो गया—यह शरीर और धनके साथ एकता माननेसे ही होता है। जब क्रोध आता है, तब हम कहते हैं कि मैं क्रोधी हूँ! विचार करें, क्या क्रोध सब समय रहता है? सबके लिये होता है? जो हरदम नहीं रहता और जो सबके लिये नहीं होता, वह मेरेमें कैसे हुआ? कुत्ता घरमें आ गया तो क्या वह घरका मालिक हो गया? ऐसे ही क्रोध आ गया तो क्या मैं क्रोधी हो गया? क्रोध तो आता है और चला जाता है, पर मैं निरन्तर रहता हूँ।

देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तुएँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, क्रिया बदलती है, अवस्था बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटना बदलती है, पर हम निरन्तर रहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बदलती हैं, पर हम तो एक ही रहते हैं, तभी हमें अवस्थाओंका और उनके परिवर्तनका अर्थात् उनके आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है। स्थूल दृष्टिसे विचार करें तो जैसे हम हरिद्वारसे ऋषिकेश आये तो पहले हम हरिद्वारसे रायवाला आये, फिर रायवालासे ऋषिकेश आये। अगर हम हरिद्वारमें ही रहनेवाले होते तो रायवाला और ऋषिकेश कैसे आते? रायवालामें रहनेवाले होते तो हरिद्वार और ऋषिकेश कैसे आते? ऋषिकेशमें रहनेवाले होते तो हरिद्वार और रायवाला कैसे

आते? अतः हम न तो हरिद्वारमें रहते हैं, न रायवालामें रहते हैं, न ऋषिकेशमें रहते हैं। हरिद्वार, रायवाला और ऋषिकेश—तीनों अलग-अलग हैं, पर हम एक ही हैं। हरिद्वारमें भी हम वही रहे, रायवालामें भी हम वही रहे और ऋषिकेशमें भी हम वही रहे। ऐसे ही जाग्रत्‌में भी हम वही रहे, स्वप्नमें भी हम वही रहे और सुषुप्तिमें भी हम वही रहे। अतः बदलनेवालेको न देखकर रहनेवालेको देखना है अर्थात् अपनेमें निर्लिप्तताका अनुभव करना है—

'रहता रूप सही कर राखो बहता संग न बहीजे'

बदलनेवालेके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है—यही अमरता (मुक्ति) है। अमरता स्वतःसिद्ध और स्वाभाविक है, करनी नहीं पड़ती। मृत्युके साथ सम्बन्ध तो हमने माना है।

प्रश्न—अभी सिंह सामने आ जाय तो भय लगेगा ही?

उत्तर—भय इस कारण लगेगा कि 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—यह बात सुनकर सीख ली है, समझी नहीं है। सीखी हुई और समझी हुई बातमें यही फर्क है। तोता अन्य समय तो राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण करता है, पर जब बिल्ली पकड़ती है, तब टें-टें करता है, जबकि समय तो अब राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण करनेका है! परन्तु सीखा हुआ ज्ञान समयपर काम नहीं आता।

सिंह आ जाय तो उससे बचनेकी चेष्टा करनेमें कोई दोष नहीं है, पर भयभीत होना दोषी है। कारण कि मरनेवाला तो मर ही रहा है और जीनेवाला जी ही रहा है, फिर भय किस बातका? सिंह मारेगा तो मरनेवालेको ही मारेगा, जीनेवालेको कैसे मारेगा? सिंह खा लेगा तो उसकी भूख मिट जायगी, अपनेमें क्या फर्क पड़ेगा?

मरनेवालेको कबतक बचाओगे? वह तो मरेगा ही। अत: न जीनेकी इच्छा करनी है, न मरनेका भय करना है।

एक मार्मिक बात है। सत्संग करनेसे पहले जितना भय लगता है, उतना भय सत्संगके बाद नहीं लगता। सत्संग करनेसे वृत्तियोंमें बहुत फर्क पड़ता है और विकार अपने-आप नष्ट होते हैं। परन्तु ऐसा तब होगा, जब हम सत्संगकी बातोंको आदर देंगे, महत्त्व देंगे, उनका अनुभव करेंगे। सत्संगकी बातोंको महत्त्व देनेसे साधकके अनुभवमें ये तीन बातें अवश्य आती हैं—

(१) काम-क्रोधादि विकार पहले जितनी तेजीसे आते थे, उतनी तेजीसे अब नहीं आते।

(२) पहले जितनी देर ठहरते थे, उतनी देर अब नहीं ठहरते।

(३) पहले जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते।

—इन बातोंको देखकर साधकका उत्साह बढ़ना चाहिये कि जो विकार कम होता है, वह नष्ट भी अवश्य होता है। व्यापारमें तो लाभ और नुकसान दोनों होते हैं, पर सत्संगमें लाभ-ही-लाभ होता है, नुकसान होता ही नहीं। जैसे माँकी गोदीमें पड़ा हुआ बालक अपने-आप बड़ा होता है, बड़ा होनेके लिये उसको उद्योग नहीं करना पड़ता। ऐसे ही सत्संगमें पड़े रहनेसे मनुष्यका अपने-आप विकास होता है। अगर जिज्ञासा जोरदार हो और थोड़ा भी विकार असह्य हो तो तत्काल सिद्धि होती है।

सत्संगसे विवेक जाग्रत् होता है। साधक जितने अंशमें उस विवेकको महत्त्व देता है, उतने अंशमें उसके काम-क्रोधादि विकार कम हो जाते हैं। विवेकको सर्वथा महत्त्व देनेसे वह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है, फिर दूसरी सत्ताका

अभाव होनेसे विकार रहनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान होनेपर विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

किसी प्रियजनकी मृत्यु हो जाय, धन चला जाय तो मनुष्यको शोक होता है। ऐसे ही भविष्यको लेकर चिन्ता होती है कि अगर स्त्री मर गयी तो क्या होगा? पुत्र मर गया तो क्या होगा? ये शोक-चिन्ता भी विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही होते हैं। संसारमें परिवर्तन होना, परिस्थिति बदलना आवश्यक है। यदि परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा? मनुष्य बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? परिवर्तनके बिना संसार स्थिर चित्रकी तरह बन जायगा! वास्तवमें मरनेवाला (परिवर्तनशील) ही मरता है, रहनेवाला कभी मरता ही नहीं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि मृत्यु होनेपर शरीर तो हमारे सामने पड़ा रहता है, पर शरीरका मालिक (जीवात्मा) निकल जाता है। यदि इस अनुभवको महत्त्व दें तो फिर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते। बालिके मरनेपर भगवान् राम इसी अनुभवकी ओर ताराका लक्ष्य कराते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

प्रश्न—विवेकका आदर न होनेमें खास कारण क्या है?

उत्तर—खास कारण है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। हम

संयोगजन्य सुखका भोग करना चाहते हैं, इसीलिये अपने विवेकका आदर नहीं होता अर्थात् ज्ञान भीतर ठहरता नहीं। तात्पर्य है कि भोगोंमें जितनी आसक्ति होती है, उतनी ही बुद्धिमें जडता आती है, जिससे सत्संगकी तात्त्विक बातें पढ़-सुनकर भी समझमें नहीं आतीं। गीतामें आया है कि भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकते।[१] भोगोंकी आसक्तिसे उनका ज्ञान ढका जाता है।[२] इसलिये जबतक वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, चिन्तन, स्थिरता (समाधि) आदिमें किंचिन्मात्र भी राग है, तबतक ज्ञान सीखा हुआ ही है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य'**।

प्रश्न—शरीर मैं नहीं हूँ—यह तो ठीक है, पर शरीर मेरा और मेरे लिये तो है ही?

उत्तर—शरीरके साथ हम तीन तरहके सम्बन्ध मानते हैं—(१) शरीर मैं हूँ, (२) शरीर मेरा है और (३) शरीर मेरे लिये है। ये तीनों ही सम्बन्ध बनावटी हैं, वास्तविक नहीं हैं। वास्तवमें शरीर 'मैं' भी नहीं है, 'मेरा' भी नहीं है और 'मेरे लिये' भी नहीं है। कारण कि अगर शरीर 'मैं' होता तो शरीरके बदलनेपर मैं भी बदल जाता और शरीरके मरनेपर मेरा भी अभाव हो जाता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीर पहले

१-भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २।४४)

२-आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ (गीता ३।३९)

'हे कुन्तीनन्दन! इस अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाले और विवेकियोंके नित्य वैरी इस कामके द्वारा मनुष्यका विवेक ढका हुआ है।'

जैसा था, वैसा आज नहीं है, पर मैं वही हूँ। शरीर बदला है, पर मैं नहीं बदला। अगर शरीर 'मेरा' होता तो उसपर मेरा पूरा अधिकार चलता अर्थात् मैं जैसा चाहता, वैसा ही शरीरको रख सकता, उसको सुन्दर बना देता, उसका रंग बदल देता, उसको बदलने नहीं देता, बीमार नहीं होने देता, कमजोर नहीं होने देता, बूढ़ा नहीं होने देता और कम-से-कम मरने तो देता ही नहीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीरपर हमारा बिलकुल वश नहीं चलता और न चाहते हुए भी, लाख कोशिश करते हुए भी वह बीमार हो जाता है, कमजोर हो जाता है, वृद्ध हो जाता है और मर भी जाता है। अगर शरीर 'मेरे लिये' होता तो उसके मिलनेपर हमें सन्तोष हो जाता, हमारे भीतर और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती और शरीरसे कभी वियोग भी नहीं होता, वह सदा मेरे साथ ही रहता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीर मिलनेपर भी हमें किंचिन्मात्र सन्तोष नहीं होता, हमारी इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं, हमें पूर्णताका अनुभव नहीं होता और शरीर भी निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत हमारेसे बिछुड़ जाता है।

जैसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही स्थूलशरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' (समाधि)-के साथ भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण यह है कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है। कोई भी चिन्तन निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत आता-जाता रहता है। स्थिरताके बाद चंचलता, समाधिके बाद व्युत्थान होता ही है। तात्पर्य है कि न तो क्रिया निरन्तर रहती है, न चिन्तन

निरन्तर रहता है और न स्थिरता निरन्तर रहती है। इन तीनोंके आने-जानेका, परिवर्तनका अनुभव तो हम सबको होता है, पर अपने परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। हमारा होनापन निरन्तर रहता है। हमारे साथ न तो पदार्थ एवं क्रिया रहती है, न चिन्तन रहता है और न स्थिरता ही रहती है। हम अकेले ही रहते हैं। इसलिये हमें अकेले (पदार्थ, क्रिया, चिन्तन और स्थिरतासे रहित) रहनेका स्वभाव बनाना चाहिये।

जब स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर तथा उनके कार्य क्रिया, चिन्तन और स्थिरताके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं तो फिर उनका संयोग हो अथवा वियोग हो, हमारेमें क्या फर्क पड़ता है? ऐसा ही अनुभव गुणातीतको भी होता है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(गीता १४। २२)

'हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।'

संयोग-वियोग तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। तत्त्वमें न संयोग है, न वियोग है, प्रत्युत नित्य-'योग' है—'**तं विद्याद्-दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३)।

जबतक हमारा सम्बन्ध पदार्थ, क्रिया, चिन्तन, स्थिरताके साथ रहता है, तबतक परतन्त्रता रहती है; क्योंकि पदार्थ, क्रिया आदि 'पर' हैं, 'स्व' नहीं हैं। इनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर हम स्वतन्त्र (मुक्त) हो जाते हैं। वास्तवमें हमारा स्वरूप (होनापन)

स्वतन्त्रता-परतन्त्रता दोनोंसे रहित है; क्योंकि स्वतन्त्रता-परतन्त्रता तो सापेक्ष हैं, पर स्वरूप निरपेक्ष है।

भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

शरीर, पदार्थ, क्रिया, अवस्था आदि असत् हैं; अतः उनका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है अर्थात् उनका निरन्तर अभाव है। स्वरूप सत् है; अतः उसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका निरन्तर भाव (सत्ता) है। असत्‌के साथ अपने सम्बन्धको न माननेसे अभावरूप असत्‌का अभाव हो जाता है और भावरूप सत् ज्यों-का-त्यों रह जाता है और उसका अनुभव हो जाता है।

ज्ञानमार्गमें असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अपने स्वरूप (चिन्मय सत्तामात्र)-में स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माकी ओर स्वतः आकर्षण होता है, जिसको प्रेम कहते हैं। अपना स्वरूप सभीको प्रिय लगता है, फिर वह जिसका अंश है, वे परमात्मा कितने प्रिय लगेंगे—इसका कोई पारावार नहीं है!

२. मैंपनसे रहित स्वरूपका अनुभव

प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है। कारण कि 'मैं' और 'मेरा' ही माया है, जिससे जीव बँधता है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥

(मानस, अरण्य० १५।२)

मैं-मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें '**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति**' (२। ७१), ज्ञानयोगमें '**अहंकारं……विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते**' (१८।५३) और भक्तियोगमें '**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (१२।१३)। इस विषयमें साधकोंके लिये एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता (मैंपन)-से रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु हम निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं, तभी भगवान् ऐसा कहते हैं।

'मैं' क्या है?

प्रत्येक मनुष्यका यह अनुभव है कि 'मैं हूँ'। यह 'मैं हूँ' ही चिज्जडग्रन्थि है। यद्यपि इसमें 'मैं' की मुख्यता प्रतीत होती है और 'हूँ' उसका सहायक प्रतीत होता है, तथापि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो मुख्यता 'हूँ' (सत्ता)-की ही है, 'मैं' की नहीं। कारण कि 'मैं' तो बदलता है, पर 'हूँ' नहीं बदलता। जैसे, 'मैं बालक हूँ; मैं जवान हूँ; मैं बूढ़ा हूँ; मैं रोगी हूँ; मैं नीरोग हूँ'—इनमें 'मैं' तो बदला है, पर 'हूँ' नहीं बदला। 'हूँ' निर्विकार रूपसे सदा रहता है। 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' प्रकृतिसे अतीत परमात्माका अंश है। यह 'हूँ' सत्ताका वाचक है। 'मैं' साथमें होनेसे ही यह 'हूँ' है। अगर 'मैं' साथमें न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। वह 'है' सर्वदेशीय है। 'मैं' के कारण ही एकदेशीय 'हूँ' का भान होता है।

मैं, तू, यह और वह—इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ' है, शेष तीनोंके साथ 'है' है; जैसे—तू है, यह है और वह है। अनादिकालसे चले आये अनन्त प्राणियोंको हम 'है' कह सकते हैं कि 'ये प्राणी हैं'। पृथ्वी, स्वर्ग, नरक, पाताल आदि सभी लोकोंको 'है' कह सकते हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—चारों युगोंको 'है' कह सकते हैं। परन्तु 'मैं' कहनेवाला एक ही है। आजकलकी भाषामें सब-के-सब वोट 'है' के ही हैं, 'मैं' का केवल एक ही वोट है!

'मैं' जड़ है और 'हूँ' चिन्मय सत्ता है। 'मैं' और 'हूँ'—दोनोंका एक हो जाना, घुल-मिल जाना तादात्म्य (चिज्जडग्रन्थि) है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले

आनन्दको भी चाहते हैं और नाशवान् भोग तथा संग्रहको भी चाहते हैं। ये दो विभाग 'मैं' और 'हूँ' के तादात्म्यके कारण ही हैं।

हम सदा रहना (जीना) चाहते हैं तो यह इच्छा न तो उसमें होती है, जो सदा नहीं रहता और न उसमें ही होती है, जो सदा रहता है। यह इच्छा उसमें होती है, जो सदा रहता है, पर उसमें मृत्युका भय आ गया। मृत्युका भय जडताके संगसे आता है; क्योंकि जडता नाशवान् है, चिन्मय सत्ता अविनाशी है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता ('है') में 'मैं' मिलानेसे ही जीनेकी इच्छा होती है। अतः जीनेकी इच्छा न 'मैं' में है और न 'हूँ' में है, प्रत्युत 'मैं हूँ'—इस तादात्म्यमें है। इस तादात्म्यके कारण ही मनुष्यमें भोगेच्छा और जिज्ञासा (मुमुक्षा) दोनों रहती हैं।

'मैं हूँ'—इन दोनोंमें हम 'मैं' को प्रधानता देंगे तो संसार (भोग एवं संग्रह)-की इच्छा हो जायगी और 'हूँ' को प्रधानता देंगे तो परमात्मा (मोक्ष)-की इच्छा हो जायगी। जब 'मैं' से माना हुआ सम्बन्ध अर्थात् तादात्म्य मिट जायगा, तब संसारकी इच्छा मिट जायगी और परमात्माकी इच्छा पूरी हो जायगी। कारण कि संसार अपूर्ण है, इसलिये उसकी इच्छा कभी पूरी नहीं होती और परमात्मा पूर्ण हैं, इसलिये उनकी इच्छा कभी अपूर्ण नहीं होती अर्थात् पूरी ही होती है। भोगेच्छा हो अथवा मुमुक्षा हो, इच्छामात्र जड़के सम्बन्ध (तादात्म्य)-से ही होती है। तादात्म्य मिटते ही हम जीवन्मुक्त हो जाते हैं। वास्तवमें हम जीवन्मुक्त तो पहलेसे ही हैं, पर 'मैं' के साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मान लेनेसे जीवन्मुक्तिका अनुभव नहीं होता। इसलिये जो नित्यप्राप्त है,

उसीकी प्राप्ति होती है और जो नित्यनिवृत्त है, उसीकी निवृत्ति होती है।

हमारा अनुभव

प्रश्न—'मैं' अलग है और 'हूँ' अलग है—इसका अनुभव कैसे करें?

उत्तर—यह तो हम सबके अनुभवकी ही बात है। जाग्रत् और स्वप्नमें तो हमारा व्यवहार होता है, पर सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)-में कोई व्यवहार नहीं होता। कारण कि सुषुप्ति-अवस्थामें मैंपन जाग्रत् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। परन्तु मैंपन लीन होनेपर भी हमारी सत्ता रहती है। इसीलिये सुषुप्तिसे जगनेपर हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था' तो 'कुछ भी पता नहीं था'—इसका पता तो था ही! नहीं तो कैसे कहते कि कुछ भी पता नहीं था? इससे सिद्ध हुआ कि जाग्रत् और स्वप्नमें मैंपन जाग्रत् रहनेपर भी हमारी सत्ता है तथा सुषुप्तिमें मैंपन जाग्रत् न रहनेपर भी हमारी सत्ता है। अतः हम मैंपनके भाव और अभाव दोनोंको जाननेवाले हैं। अगर हम मैंपनसे अलग न होते, अहंकाररूप ही होते तो सुषुप्तिमें मैंपनके लीन होनेपर हम भी नहीं रहते।* अतः मैंपनके बिना भी हमारा होनापना सिद्ध होता है।

हम अहम् ('मैं')-के भाव और अभाव—दोनोंको जानते हैं, पर अपने अभावको कभी कोई नहीं जानता; क्योंकि हमारी सत्ताका अभाव कभी होता ही नहीं—**'नाभावो विद्यते सतः'**

* सुषुप्तिमें मैंपन मिटता नहीं है, प्रत्युत अविद्यामें लीन होता है और निद्राके मिटनेपर (जाग्रत्-अवस्थामें आनेपर) वह पुनः प्रकट हो जाता है। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर मैंपन मिट जाता है।

(गीता २।१६)। असत् वस्तु अहम्के भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाली हमारी सत्ता निरन्तर रहती है। जैसे, कल हम जाग्रत्में थे, रात्रिमें स्वप्न अथवा गाढ़ निद्रा आ गयी और आज पुनः जाग्रत्में हैं तो जाग्रत् और स्वप्नमें अहम्के भावका अनुभव होता है, पर गाढ़ निद्रामें अहम्के अभावका अनुभव होता है। जाग्रत् आदि अवस्थाएँ निरन्तर नहीं रहतीं—यह भी हमारा अनुभव है। अतः हमारा स्वरूप अहम् तथा अवस्थाओंके भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाला अलुप्त प्रकाश है। इसीलिये हम कहते हैं कि कल जो मैं जागता था, वही आज जागता हूँ और वही स्वप्न तथा सुषुप्तिमें था। तात्पर्य है कि तीनों अवस्थाओंमें हमें अखण्ड रूपसे अपनी सत्ताका अनुभव होता है। इसी तरह हम किसी भी योनिमें जायँ, हमारी अहंता तो बदलती है, पर हम नहीं बदलते। जैसे पहले हम कहते थे कि 'मैं बालक हूँ', फिर हम कहने लगे कि 'मैं जवान हूँ' और अब हम कहते हैं कि 'मैं वृद्ध हूँ' तो बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था तो अलग-अलग हुए, पर उनमें हमारी सत्ता एक ही रही अर्थात् अवस्थाओंके बदलनेपर भी हमारी सत्ता नहीं बदली। ऐसे ही जीव मनुष्यशरीरमें आनेपर 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा मानता है, देवता बननेपर 'मैं देवता हूँ' ऐसा मानता है, पशु बननेपर 'मैं पशु हूँ' ऐसा मानता है, भूत-प्रेत बननेपर 'मैं भूत-प्रेत हूँ' ऐसा मानता है, आदि-आदि। इससे यह सिद्ध होता है कि देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर अहंता तो बदल जाती है, पर हमारी सत्ता नहीं बदलती।

इस प्रकार सुषुप्तिमें अहंकारके अभावका और अवस्थाओं तथा देहान्तरकी प्राप्तिमें अहंकारके परिवर्तनका अनुभव तो

सबको होता है, पर अपनी सत्ताके अभाव और परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको हुआ नहीं, हो सकता नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि अहंकार (मैंपन) हमारा स्वरूप नहीं है। हमारेसे गलती यह होती है कि हम अपने इस अनुभवका आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते। अगर हम इस अनुभवको महत्त्व दें तो अनादिकालसे अहंकारके साथ अपनेपनके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार अपने-आप कम होते-होते मिट जायँगे।

हमारा स्वरूप

हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें मैं-तू-यह-वहका भेद नहीं है। मैं, तू, यह और वह—ये चारों प्राकृत हैं और स्वरूप प्रकृतिसे अतीत है। ये चार हैं और सत्ता एक है। ये चारों अनित्य हैं और सत्ता नित्य है। ये चारों सापेक्ष हैं और सत्ता निरपेक्ष है। ये चारों प्रकाश्य हैं और सत्ता प्रकाशक है। ये चारों आधेय हैं और सत्ता आधार है। ये चारों जाननेमें आनेवाले हैं और सत्ता जाननेवाली है। इन चारोंका परिवर्तन तथा अभाव होता है और सत्ताका कभी परिवर्तन तथा अभाव नहीं होता। इसलिये इन चारोंके बदलनेका, आने-जानेका, भाव-अभावका, उत्पन्न-नष्ट होनेका तो अनुभव होता है, पर अपने बदलनेका, आने-जानेका, भाव-अभावका, उत्पन्न-नष्ट होनेका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

मैं, तू, यह और वह—ये चारों तो असत्, जड़ और दुःखरूप हैं, पर चिन्मय सत्ता सत्, चित् और आनन्दरूप है। इस चिन्मय सत्तामें सबकी स्वतः निरन्तर स्थिति है। सांसारिक स्थूल व्यवहार करते हुए भी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई विकार, हलचल, अशान्ति, उद्वेग नहीं होता। कारण कि

सत्तामें न अहंता (मैंपन) है, न ममता (मेरापन) है। वह सत्ता ज्ञप्तिमात्र, ज्ञानमात्र है। इस ज्ञानका ज्ञाता कोई नहीं है अर्थात् ज्ञान है, पर ज्ञानी नहीं है। जबतक ज्ञानी है, तबतक एकदेशीयता, व्यक्तित्व है। एकदेशीयता मिटनेपर एकमात्र निर्विकार, निरहंकार, सर्वदेशीय सत्ता शेष रहती है, जो सबको स्वतःप्राप्त है।*

स्वरूपमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—ये पाँचों ही अवस्थाएँ नहीं हैं। ये पाँचों अवस्थाएँ अनित्य हैं और स्वरूप नित्य है। अवस्थाएँ प्रकाश्य हैं और स्वरूप प्रकाशक है। अवस्थाएँ अलग-अलग (पाँच) हैं, पर उनको जाननेवाले हम स्वयं एक ही हैं। इन पाँचों अवस्थाओंके परिवर्तन, अभाव तथा आदि-अन्तका अनुभव तो हमें होता है, पर अपने (स्वरूपके) परिवर्तन, अभाव तथा आदि-अन्तका अनुभव हमें नहीं होता; क्योंकि स्वरूपमें ये हैं ही नहीं। जैसे स्वप्नावस्थामें देखे गये पदार्थ मिथ्या (अभावरूप) हैं, ऐसे ही उन पदार्थोंका अनुभव करनेवाला (स्वप्नको देखनेवाला) अहंकार भी मिथ्या है। स्वप्नावस्थामें तो जाग्रत्-अवस्था दबती है, मिटती नहीं, पर जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्नावस्था मिट जाती है। अतः स्वप्नावस्थाके साथ-साथ उसका अहंकार भी मिट जाता है। इसी तरह जाग्रत्-अवस्थामें जो अहंकार दीखता है, वह भी शरीर छूटनेपर मिट

---

* वास्तवमें सत्ताका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, अहंकारकी अपेक्षासे निरहंकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस सत्तामें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, जबकि सत्ता निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। इसलिये गीतामें आया है कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२)।

जाता है; परन्तु तादात्म्यके कारण दूसरे देहकी प्राप्ति होनेपर पुनः अहंकार जाग्रत् हो जाता है। यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंका अहंकार भी अलग-अलग होता है, तथापि उनमें अपनी सत्ता एक रहनेके कारण अहंकार भी एक दीखता है।

एक तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) होती है, जिसको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके बादकी अवस्था कहते हैं। परन्तु वास्तवमें तुरीयावस्था कोई अवस्था नहीं है, प्रत्युत तीन अवस्थाओंकी अपेक्षासे उसको तुरीयावस्था अर्थात् चतुर्थ अवस्था कह देते हैं। इसको बद्धावस्थाकी अपेक्षासे मुक्तावस्था भी कह देते हैं। निर्वाण पद भी इसीका नाम है—

पद निरवाण लखे कोई विरला,

तीन लोकमें काल समाना, चौथे लोकमें नाम निसाण, लखे कोई विरला।

तुरीयावस्था, मुक्तावस्था अथवा निर्वाण पद कोई अवस्था या पद नहीं है, प्रत्युत हमारा स्वरूप है।

मैंपनको मिटानेका उपाय

'मैंपन कैसे मिटे?' यह प्रश्न यदि हरदम जाग्रत् रहे तो अहंकार मिट जायगा। वास्तवमें अहंकार मिटा हुआ ही है। परन्तु सच्ची और उत्कट लगन न होनेके कारण इसका अनुभव नहीं हो रहा है। एक सन्तके चरित्रमें आया है कि गरमीका समय था, जोरसे प्यास लग रही थी और कमण्डलुमें ठण्डा जल भी पासमें रखा था; परन्तु लगन लगी थी कि जबतक अनुभव नहीं होगा, तबतक पानी नहीं पीऊँगा! ऐसी लगन लगते ही चट अनुभव हो गया! ऐसा अनुभव एक बार हो जायगा तो फिर वह सदाके लिये, युग-युगान्तरतकके लिये हो जायगा—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव**' (गीता ४। ३५)।

अहंकारको मिटानेके तीन उपाय बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करें, दूसरोंको सुख पहुँचाएँ तो अपने भोग और संग्रहकी इच्छा मिट जायगी। भोगेच्छा सर्वथा मिटनेपर अहंकार नष्ट हो जायगा; क्योंकि भोगेच्छापर ही अहंकार टिका हुआ है। ज्ञानयोगमें विवेकके द्वारा यह समझें कि असत्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत हमारा सम्बन्ध सर्वव्यापक सत्‌-स्वरूपके साथ है। ऐसा समझकर सत्‌-स्वरूपका अनुभव कर लें तो अहंकार नष्ट हो जायगा। भक्तियोगमें 'भगवान् ही मेरे हैं, संसार मेरा नहीं है'—ऐसा मानकर संसारसे विमुख और भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो अहंकार नष्ट हो जायगा। कर्मयोगमें अहंकार शुद्ध होता है, ज्ञानयोगमें अहंकार मिटता है और भक्तियोगमें अहंकार बदलता है। शुद्ध होना, मिटना और बदलना—तीनोंका परिणाम एक (अभाव) ही है।

अहंकार अनित्य और परिवर्तनशील है—यह सबका अनुभव है। एक दिनमें कई बार अहंकार बदलता है। बापके सामने हम कहते हैं कि मैं बेटा हूँ और बेटेके सामने कहते हैं कि मैं बाप हूँ। अगर कोई हमसे पूछे कि आप एक बात बताओ कि आप बाप हो या बेटा हो तो हम क्या बतायेंगे? एक बात सच्ची हो तो बतायें! इस बनावटीपनको छोड़कर जब हम वास्तविकताको देखेंगे तभी सच्ची बात मिलेगी। हम माँके सामने बेटे बन जाते हैं, बहनके सामने भाई बन जाते हैं, स्त्रीके सामने पति बन जाते हैं—यह जो हमारा बहुरूपियापना है अर्थात् बदलनेवालेको सत्य मानना है, यही अहंकारके मिटनेमें बाधक है। वास्तवमें हम न

बाप हैं, न बेटे हैं, न भाई हैं, न पति हैं, प्रत्युत इन सबमें रहनेवाली एक सत्ता हैं। वह सत्ता ही हमारा स्वरूप है। अगर अपना स्वरूप बाप होता तो वह कभी बेटा नहीं बनता और बेटा होता तो कभी बाप नहीं बनता। परन्तु बेटेके सामने वह कहता है कि मैं बाप हूँ और बापके सामने कहता है कि मैं बेटा हूँ तो यह सापेक्ष अहंवृत्ति है, जो केवल व्यवहारके लिये है। अहंवृत्ति कर्ता नहीं है, प्रत्युत करण है। कर्ता अहंकार है। खाता हूँ, पीता हूँ, बोलता हूँ आदि सामान्य क्रियाएँ 'अहंवृत्ति' से होती हैं, पर अहंकार सब क्रियाओंमें निरन्तर रहता है। उन क्रियाओंको लेकर जब हम अपनेमें कोई विशेषता देखते हैं, तब अभिमान हो जाता है; जैसे—मैं धनवान् हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं व्याख्यानदाता हूँ आदि।

गीतामें आया है—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (३। २७)

'अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अर्थात् अहंकारसे तादात्म्य करनेवाला मनुष्य अपनेको कर्ता मान लेता है।' वास्तवमें स्वरूप (स्वयं) कर्ता नहीं है। अतः साधकको चाहिये कि वह 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' इसपर दृढ़ रहे—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८)। जब अपनेमें कर्तापन और लिप्तता नहीं रहती, तब साधकको पूर्णता प्राप्त हो जाती है, वह सिद्ध हो जाता है—'**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते**' (गीता १८। १७)।

पदार्थ, रुपये, कुटुम्ब, शरीर आदिमें जो प्रियता (राग) है, वह बुद्धिकी लिप्तता है। कर्तापन और लिप्तता—दोनों ही

स्वरूपमें नहीं हैं, प्रत्युत मानी हुई हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३।३१)। जैसे हम किसी प्रकाशमें बैठे हैं तो वह प्रकाश किसीसे भी लिप्त नहीं होता और उसमें 'मैं प्रकाश हूँ; मेरा प्रकाश है'—ऐसी अहंता-ममता भी नहीं होती, ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकाशित करनेपर भी स्वरूप (स्वयं) निर्लिप्त रहता है। वह क्रियाओंको प्रकाशित करता नहीं है, प्रत्युत क्रियाएँ उससे प्रकाशित होती हैं अर्थात् स्वरूपसे उन क्रियाओंको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है।

तादात्म्यसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय, उद्वेग-हलचल आदि विकार उत्पन्न होते हैं। अगर ये विकार न होते हों, प्रत्युत अपनेमें केवल एकदेशीयपना दीखता हो तो यह भी साधकको असह्य होना चाहिये। कारण कि अहंता तो एकदेशीय है, पर सत्ता एकदेशीय नहीं है। जब सत्ता ही अपना स्वरूप है तो फिर अपनेमें एकदेशीयपना क्यों दीखता है—ऐसा विचार करके साधकको सन्तोष नहीं करना चाहिये। इसलिये पूर्वसंस्कारसे अपनेमें एकदेशीयपना (अहंता) दीखे तो साधकको ऐसा मानना चाहिये कि वास्तवमें अहंता आ नहीं रही है, प्रत्युत जा रही है। दरवाजेपर आदमी आता हुआ भी दीखता है और जाता हुआ भी दीखता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अहंताके टुकड़े होते हैं। अहंताके टुकड़े नहीं होते, प्रत्युत अनादिकालसे अहंताके जो संस्कार पड़े हुए हैं, उनका अचानक भान हो जाता है। अतः उसको महत्त्व न देकर उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये और दृढ़तासे यह अनुभव करना चाहिये कि अपनेमें अहंता नहीं है। कारण कि अगर अपनेमें अहंता होती तो वह सुषुप्तिमें भी रहती और अवस्थान्तर अथवा देहान्तरकी प्राप्तिमें भी रहती।

जब प्रकृतिका कोई भी कार्य स्थिर नहीं है तो फिर अहंता कैसे स्थिर रहेगी? अहंता हरदम बदलती है, कभी स्थिर और एकरूप नहीं रहती और न रह सकती है। परन्तु जो प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (अपनी सत्ता) है, वह कभी बदलता नहीं, सदा स्थिर और एकरूप रहता है। अतः बदलनेवाली वस्तुके साथ हमारा (न बदलनेवालेका) सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा दृढ़तासे अनुभव कर लेना चाहिये; क्योंकि यह वास्तविकता है।

मैंपनकी खोज

अब यह खोज करनी है कि मैंपन किसमें है? यदि सत्‌में मैंपन मानें तो फिर मैंपन कभी मिटेगा ही नहीं और मनुष्य कभी निर्मम-निरहंकार हो ही नहीं सकेगा। मैंपन प्रकृतिका कार्य है और सत्-तत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। मैंपन प्रकृतिमें भी नहीं है, फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कैसे होगा? सत्-तत्त्व इतना ठोस है कि उसमें मिटनेवाले मैंपनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि असत्‌में मैंपन मानें तो असत् निरन्तर परिवर्तनशील है, फिर उसमें मैंपन कैसे टिकेगा? जिसकी खुदकी ही सत्ता नहीं है, उसमें दूसरी वस्तुकी कल्पना कैसे बैठेगी? अतः मैंपन न तो सत्‌में है और न असत्‌में है। सत् और असत्‌के सम्बन्धमें भी मैंपन नहीं मान सकते। कारण कि जैसे प्रकाश और अंधकारका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही सत् और असत्‌का भी संयोग नहीं हो सकता। मैंपनको अन्तःकरणमें भी नहीं मान सकते; क्योंकि अन्तःकरण एक वृत्ति है, जो कर्ताके अधीन है। अतः जो कर्ता है, उसीमें मैंपन है।

अब प्रश्न होता है कि कर्ता कौन है? शरीर कर्ता नहीं है;

क्योंकि शरीर प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार करण हैं, जिनको 'अन्तःकरण' कहते हैं। यह अन्तःकरण भी कर्ता नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—'**स्वतन्त्रः कर्ता**' (पाणि० अ० १।४।५४)। करण तो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त सहायक होता है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १।४।४२), इसलिये करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं। जैसे, कलम स्वतन्त्रतासे नहीं लिखती, प्रत्युत वह तो लिखनेका एक साधन (करण) है, जो लेखक (कर्ता)-के अधीन होता है। अतः करण कर्ता नहीं होता और कर्ता करण नहीं होता। यदि अन्तःकरण 'करण' है तो फिर वह कर्ता कैसे? दूसरी बात, यदि करणमें कर्तापन है तो फिर खुद सुखी-दुःखी क्यों होता है? यदि करण, सुखी-दुःखी होता है तो हमें क्या नुकसान है? सत्-स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि मैंपन तो प्रकृतिका कार्य है, वह प्रकृतिसे अतीतमें कैसे सम्भव है? यदि स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं; क्योंकि स्वरूप अविनाशी है। इसलिये गीतामें आया है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८।१६)

'जो कर्मोंके विषयमें शुद्ध आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।'

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दु:खी) होता है, वही कर्ता होता है। अब प्रश्न होता है कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न सत् है, न असत् है। सत् भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि सत्का कभी अभाव नहीं होता—'**ना भावो विद्यते सतः**', जबकि भोक्तापनका अभाव होता है—'**न लिप्यते**' (गीता १३।३१)। असत् भी भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि असत्की सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**'। अतः उसमें भोक्तापनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तापन और भोक्तापन न तो सत्में है और न असत्में ही है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मैंपनको सत्से भी हटा ले और असत्से भी हटा ले। इन दोनोंसे मैंपन हटाते ही मैंपन नहीं रहेगा, कर्ता-भोक्ता नहीं रहेगा, प्रत्युत चिन्मय सत्ता रह जायगी।

जब कोई कर्ता-भोक्ता नहीं रहता, तब 'योग' रहता है। योग होनेपर भोग नहीं रहता अर्थात् 'योग' तो रहता है, पर योगी नहीं रहता, 'ज्ञान' तो रहता है, पर ज्ञानी नहीं रहता, 'प्रेम' तो रहता है, पर प्रेमी नहीं रहता। जबतक योगी रहता है, तबतक योगका भोग होता है। जबतक ज्ञानी रहता है, तबतक ज्ञानका भोग होता है। जबतक प्रेमी रहता है, तबतक प्रेमका भोग होता है। अतः जो योगी है, वह योगका भोगी है। जो ज्ञानी है, वह ज्ञानका भोगी है। जो प्रेमी है, वह प्रेमका भोगी है। जो योगका भोगी है, वह कभी विषयोंका भोगी भी हो सकता है। जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भोगी भी हो सकता है। जो प्रेमका भोगी है, वह कभी काम (राग)-का भोगी भी हो सकता है।

जब भोगी नहीं रहता, तब केवल योग रहता है। योग रहनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परन्तु मुक्त होनेपर भी महापुरुषने जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है, उस साधनका एक संस्कार रह जाता है, जो दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होने देता। इस संस्कारके कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अपने मतका संस्कार दूसरे दार्शनिकोंके मतोंका समान आदर नहीं करने देता। परन्तु प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अपने मतका संस्कार भी नहीं रहता और सबके साथ एकता हो जाती है। इसलिये रामायणमें आया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। प्रेममें अपने मतके संस्कारका भी सर्वथा अभाव हो जानेसे सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और '**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसका अनुभव हो जाता है। वास्तवमें '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाला, इसको जाननेवाला, कहनेवाला भी नहीं रहता, प्रत्युत एक वासुदेव ही रहता है, जो अनादिकालसे ज्यों-का-त्यों है। सबमें परमात्माको देखनेसे सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव हो जाता है; क्योंकि अपने इष्ट परमात्मासे विरोध सम्भव ही नहीं है—'**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध**' (मानस, उत्तर० ११२ ख)। इसलिये गीतामें '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ बताया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

३. सत्-असत्का विवेक

श्रीमद्भगवद्गीताका एक श्लोक है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत्का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही अन्त अर्थात् तत्त्व देखा है, अनुभव किया है।'

(१)

इस श्लोकके पूर्वार्धमें आये '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**'—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेदों, पुराणों, शास्त्रोंका तात्पर्य भरा हुआ है! चिन्मय सत्तामात्र 'सत्' है और सत्ताके सिवाय जो कुछ भी प्रकृति और प्रकृतिका कार्य (क्रिया और पदार्थ) है, वह सब 'असत्' अर्थात् जड और परिवर्तनशील है। देखने, सुनने, समझने, चिन्तन करने, निश्चय करने आदिमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन आदि करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी 'असत्' है। असत् और सत्—इन दोनोंको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि अनेक नामोंसे कहा गया है।

पूर्वोक्त श्लोकार्ध (सोलह अक्षरों)-में तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

(१) '**भू सत्तायाम्**'—जैसे , 'अभाव:' और 'भाव:'।

(२) '**अस् भुवि**'— जैसे, 'असत:' और 'सत:'।

(३) '**विद् सत्तायाम्**'—जैसे, 'विद्यते' और 'न विद्यते'।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक 'सत्ता' ही है, तथापि सूक्ष्म रूपसे ये तीनों अपना स्वतन्त्र अर्थ भी रखते हैं; जैसे—'भू' धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, 'अस्' धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और 'विद्' धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानकी सत्ता) है।

(२)

'**नासतो विद्यते भाव:**' पदोंका अर्थ है—'**असत: भाव: न विद्यते**' अर्थात् असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है, प्रत्युत असत्‌का अभाव ही विद्यमान है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षण अभाव है, उसका सदा-सर्वथा अभाव ही है। अत: संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितनी ही सत्ता दें, उसको कितना ही ऊँचा मानें, उसका कितना ही आदर करें, उसको कितना ही महत्त्व दें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं, कभी

प्राप्त हुआ ही नहीं, कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्‌का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'**नाभावो विद्यते सतः**' पदोंका अर्थ है—'**सतः अभावः न विद्यते**' अर्थात् सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है, प्रत्युत सत्‌का भाव ही विद्यमान है। दूसरे शब्दोंमें, सत्‌की सत्ता निरन्तर विद्यमान है। सत् सदा वर्तमान है। सत् सदा उपस्थित है। सत् सदा प्राप्त है। सत् सदा मिला हुआ है। सत् सदा मौजूद है। सत् सदा कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था, क्रिया आदिमें सत्‌का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल, वस्तु आदि तो असत् (अभावरूप अर्थात् निरन्तर परिवर्तनशील) हैं, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अतः सत्‌का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्‌का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्‌का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (गीता २। १७)।

'**उभयोरपि दृष्टः**' पदोंका तात्पर्य है कि तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने सत्-तत्त्वको उत्पन्न नहीं किया है, प्रत्युत देखा है अर्थात् अनुभव किया है। तात्पर्य है कि असत्‌का अभाव और सत्‌का भाव—दोनोंके तत्त्वको (निष्कर्ष)-को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतःस्वाभाविक

एक 'है' का ही अनुभव करते हैं। इसलिये असत्‌की सत्ता नहीं है—यह भी सत्य है और सत्‌का अभाव नहीं है—यह भी सत्य है। अतः दोनोंका तत्त्व सत् ही है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व ('है')-के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्‌की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्‌का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है।

(३)

जो सहज निवृत्त है, वह 'असत्' है और जो स्वतः प्राप्त है, वह 'सत्' है। निवृत्तका नित्यवियोग है और प्राप्तका नित्ययोग है। असत्‌का केवल अभाव-ही-अभाव है और इस अभावका कभी अभाव (नाश) नहीं होता। सत्‌का केवल भाव-ही-भाव है और इस भावका कभी अभाव नहीं होता। असत्‌की सत्ता माननेसे ही निवृत्त और प्राप्त ये दो विभाग कहे जाते हैं। असत्‌को सत्ता न दें तो न निवृत्त है, न प्राप्त है, प्रत्युत सत्तामात्र ज्यों-की-त्यों है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**'—इसमें '**उभयोरपि**' में विवेक है और '**अन्तः**' में तत्त्वज्ञान है अर्थात् विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो गया और सत्तामात्र ही शेष रह गयी।

जैसे दिन और रात—दोनों अलग-अलग हैं, ऐसे ही सत् और असत्—दोनों अलग-अलग हैं। जैसे दिन रात नहीं हो सकता और रात दिन नहीं हो सकती, ऐसे ही सत् असत् नहीं

हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता; परन्तु तत्त्वसे दोनों एक ही हैं। जैसे दिन और रात—दोनों सापेक्ष हैं, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात् वह निरपेक्ष प्रकाश है। ऐसे ही सत् और असत्—दोनों सापेक्ष हैं, पर परमात्मतत्त्व (सत्-तत्त्व) निरपेक्ष है। इसलिये तत्त्वदर्शी महापुरुष सत्-असत्—दोनोंके एक ही तत्त्व सत्-तत्त्व अर्थात् निरपेक्ष परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

(४)

जैसे हम कहते हैं कि यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, यह मकान है आदि, तो इसमें 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। परन्तु 'है' रूपसे जो सत्ता है, वह सदा ज्यों-की-त्यों है। तात्पर्य है कि 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो संसार (असत्) है और 'है' परमात्मतत्त्व (सत्) है। इसलिये 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो अलग-अलग हुए, पर 'है' वही रहा। इसी तरह मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देवता हूँ आदिमें शरीर तो अलग-अलग हुए, पर 'हूँ' वही रहा।

संसारकी तो सत्ता नहीं है और परमात्मतत्त्वका अभाव नहीं है। अतः जो निरन्तर बदलता है, उसका भाव कभी नहीं हो सकता और जो कभी नहीं बदलता, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। 'नहीं' कभी 'है' नहीं हो सकता और 'है' कभी 'नहीं' नहीं हो सकता। असत् कभी विद्यमान नहीं है और 'सत्' सदा विद्यमान है। जिसका अभाव है, उसीका त्याग करना है और जिसका भाव है, उसीको प्राप्त करना है—इसके सिवाय

और क्या बात हो सकती है! 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

(५)

असत्‌की नित्यनिवृत्ति है और सत्‌की नित्यप्राप्ति है। नित्य-निवृत्तकी निवृत्ति और नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें क्या कठिनता और क्या सुगमता? क्या करना और क्या न करना? क्या पाना और क्या खोना? क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है—

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

जब सत्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर इसमें क्या अभ्यास करें? क्या चिन्तन करें? इसमें न कुछ करना है, न कुछ सोचना है, न कुछ निश्चय करना है, न कुछ प्राप्त करना है और न कुछ निवृत्त करना है। असत्‌को मिटाना भी गलती है और उसको रखनेकी अथवा प्राप्त करनेकी चेष्टा करना भी गलती है। अतः उसको न मिटाना है, न रखना है, प्रत्युत उसकी उपेक्षा करनी है। जो नहीं है, वही मिटता है और जो है, वही मिलता है। अतः असत्‌की निवृत्ति करनी ही नहीं है; क्योंकि असत् नित्य-निवृत्त है और सत्‌की प्राप्ति करनी ही नहीं है; क्योंकि सत् नित्य-निरन्तर प्राप्त है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ, कुछ भी चिन्तन न करें। न संसारका चिन्तन करें; न परमात्माका चिन्तन करें; क्योंकि चिन्तन करनेसे हम संसार (अन्तःकरण)-के साथ जुड़ते हैं और परमात्मासे दूर होते हैं। अतः चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत चिन्तन करनेकी शक्ति जिससे प्रकाशित होती

है, उसमें अपनी स्थितिका अनुभव करना है, जो कि स्वतःसिद्ध है। जिस ज्ञानके अन्तर्गत वृत्तियाँ दीखती हैं, उस ज्ञानमें अपनी स्थितिका अनुभव करना है, जो कि स्वतःसिद्ध है।

(६)

यद्यपि भाव परमात्माका ही है, संसारका नहीं, तथापि मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह पहले संसार (शरीर)-को देखकर फिर उसमें परमात्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि परमात्मा पहले थे या संसार पहले था? स्वयं (स्वरूप) पहले था या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि परमात्मा पहले हैं, संसार पीछे है; स्वयं पहले है, शरीर पीछे है; भाव पहले है, आकृति पीछे है। इसलिये साधककी दृष्टि पहले भावरूप परमात्मा या चिन्मय सत्ताकी तरफ जानी चाहिये, संसार या शरीरकी तरफ नहीं। हम संसारमें हैं और परमात्माको प्राप्त करना है—ऐसा मानना ही गलती है; क्योंकि वास्तवमें हम परमात्मामें ही हैं। संसारकी तो सत्ता ही नहीं है— **'नासतो विद्यते भावः।'** साधककी दृष्टि भावरूप परमात्माकी तरफ ही रहनी चाहिये, अभावरूप संसारकी तरफ नहीं, प्रत्युत संसारसे विमुखता होनी चाहिये।

(७)

असत्‌का भाव निरन्तर अभावमें बदल रहा है। परन्तु जो असत्‌के अभावको जानता है, उस सत्-तत्त्वका भाव कभी अभावमें नहीं बदलता।

उस सत्-तत्त्वमें सबकी स्वतःसिद्ध स्थिति है, इसीलिये अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। वह सत्-तत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे सर्वथा अतीत है। असत्को सत्ता और महत्ता देनेके कारण मनुष्य सत्-तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव नहीं कर पाता। तात्पर्य है कि असत्की सत्तारूपसे मान्यता ही सत्की स्वीकृति नहीं होने देती। यहाँ शंका हो सकती है कि जब असत्की सत्ता है ही नहीं तो फिर वह दीखता क्यों है? इसका समाधान यह है कि जिन इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहम्के द्वारा असत् दीखता है, वे इन्द्रियाँ आदि भी उसी जातिके (असत्) ही हैं। तात्पर्य है कि असत् (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्)-के साथ तादात्म्य करनेके कारण ही असत् दीखता है। अगर असत्से तादात्म्य न करें तो असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है। इसलिये सत्-तत्त्व (आत्मा)-ने आजतक कभी असत्को देखा ही नहीं! जैसे, सूर्यने आजतक कभी अन्धकारको देखा ही नहीं! यह ज्ञानकी दृष्टिसे कहा गया है। अगर भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो असत् संसार प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति भगवान्की शक्ति है*। भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृति और उसका कार्य भगवत्स्वरूप ही है; क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७।४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है।'

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वेताश्वतर० ४।१०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये।'

अलग नहीं हो सकती। जैसे शरीरके गोरे या काले रंगको शरीरसे अलग करके नहीं देख सकते, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंको शरीरसे अलग करके नहीं देख सकते, ऐसे ही प्रकृतिको भगवान्से अलग करके नहीं देख सकते। जैसे मनुष्य अपनी शक्ति (बल, ताकत, विद्वत्ता, योग्यता, चातुर्य, सामर्थ्य आदि)-के बिना तो रह सकता है, पर शक्ति मनुष्यके बिना नहीं रह सकती, ऐसे ही भगवान् तो शक्तिके बिना रह सकते हैं और रहते ही हैं*, पर शक्ति भगवान्के बिना नहीं रह सकती। तात्पर्य है कि शक्ति भगवान्के अधीन (आश्रित) है, भगवान् शक्तिके अधीन नहीं हैं। शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होता है, पर शक्तिके बिना शक्तिमान्का अभाव नहीं होता। अतः भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृतिकी भी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव है अर्थात् एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है। इसलिये भगवान्ने कहा है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९), '**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९)। यह गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है, जिसमें सम्पूर्ण मतभेद समाप्त हो जाते हैं। कारण कि सम्पूर्ण मतभेद सूक्ष्म अहम्से पैदा होते हैं और '**वासुदेवः सर्वम्**' में अहम्की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं है।

(८)

जिसका अभाव है, उस असत् ('नहीं')-के द्वारा अपना महत्त्व मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं। जिसका भाव है, उस सत् ('है')-के द्वारा अपना महत्त्व मानना

* विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (गीता १०। ४२)
'मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ।'

मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण गुण उत्पन्न होते हैं। भूल यही है कि जो मौजूद नहीं है उसकी सत्ता मानते हैं, उसको अपना मानते हैं और जो मौजूद है, उसकी सत्ता नहीं मानते, उसको अपना नहीं मानते। मिला हुआ तो बिछुड़ जायगा, वह अपना कैसे हो सकता है? परन्तु जो मौजूद नहीं है, उस मिले हुएको अपना माननेसे जो मौजूद है, उसको अपना माननेकी शक्ति नहीं रहती। ज्ञानकी दृष्टिसे आत्मा (स्व) अपना है और भक्तिकी दृष्टिसे भगवान् (स्वकीय) अपने हैं। 'स्व' में प्रीति होना ज्ञान है और 'स्वकीय' में प्रीति होना भक्ति है।

(९)

एक सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें होता है, वह मध्य (वर्तमान)-में भी होता है तथा जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह मध्यमें भी नहीं होता।* जैसे शरीर और संसार पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे तथा बीचमें भी वे प्रतिक्षण बदलकर नाशकी ओर जा रहे हैं अर्थात् प्रतिक्षण मर रहे हैं, उनका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। परन्तु शरीरी (शरीरवाला)

---

* (१) यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्। (श्रीमद्भा० ११। २४। १७)
'जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।'
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥ (श्रीमद्भा० ११। २८। १८)
'इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही परमात्मा बीचमें भी है।'
(२) न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्। (श्रीमद्भा० ११। २८। २१)
'जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है।'
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (माण्डूक्यकारिका २। ६, ४। ३१)
'जो आदि और अन्तमें नहीं है, वह वर्तमानमें भी नहीं है।'

और परमात्मतत्त्व पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे तथा बीचमें भी ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं।

जो आदि और अन्तमें नहीं है, उसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है तथा जो आदि और अन्तमें है, उसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है। जिसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'असत्' है और जिसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'सत्' है। असत्के साथ हमारा नित्यवियोग है और सत्के साथ हमारा नित्ययोग है।

सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि आने-जानेवाले, बदलनेवाले हैं, पर सत्ता अर्थात् स्वरूप ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। साधकसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह बदलनेवाली दशाको देखता है, पर सत्ताको नहीं देखता; दशाको स्वीकार करता है, पर सत्ताको स्वीकार नहीं करता। दशा पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; अतः बीचमें दीखनेपर भी वह है नहीं। परन्तु सत्तामें आदि, अन्त और मध्य है ही नहीं। दशाको लेकर ही सत्ताका आदि, अन्त तथा मध्य कहा जाता है। दशा कभी एकरूप रहती ही नहीं और सत्ता कभी अनेकरूप होती ही नहीं। जो दीखता है, वह भी दशा है और जो देखनेवाली है, वह भी दशा है। जाननेमें आनेवाली भी दशा है और जाननेवाली भी दशा है। सत्तामें न दीखनेवाला है, न देखनेवाला है; न जाननेमें आनेवाला है, न जाननेवाला है; न समझनेवाला है, न समझानेवाला है; न श्रोता है, न वक्ता है। ये दीखनेवाला-देखनेवाला आदि सब दशाके अन्तर्गत हैं। दीखनेवाला-देखनेवाला आदि तो नहीं रहेंगे, पर सत्ता रहेगी; क्योंकि दशा तो मिट जायगी, पर सत्ता रह जायगी।

आश्चर्यकी बात है कि हम कामना उसकी करते हैं, जो नहीं

है। भयभीत उससे होते हैं, जिसकी सत्ता ही नहीं है। सुख नहीं रहता, पर उसकी कामनाको हम पकड़े रखते हैं। दुःख नहीं रहता, पर उसके भयको हम पकड़े रखते हैं। यह कितनी बेसमझीकी बात है! सुखकी इच्छासे ही दुःखका भय होता है। जीनेकी इच्छासे ही मरनेका भय होता है। यदि इच्छा न रहे तो न दुःख रहेगा, न दुःखका भय रहेगा और न मरनेका भय रहेगा। इच्छाकी निवृत्ति होते ही जिज्ञासाकी पूर्ति हो जाती है अर्थात् कुछ करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

सुख पापोंका कारण नहीं है, प्रत्युत सुखकी इच्छा पापोंका कारण है।[१] सुखकी इच्छा ही नरकोंका दरवाजा है।[२] सुखदायी परिस्थितिको रखनेमें सब परतन्त्र हैं, पर सुखकी इच्छाको छोड़नेमें सब स्वतन्त्र हैं। सुखकी इच्छाको छोड़नेमें अभ्यास नहीं है, प्रत्युत विवेक है, जो वर्तमानकी वस्तु है। जिसको रखनेमें हम परतन्त्र हैं, उसको हम छोड़ना नहीं चाहते और जिसको छोड़नेमें हम स्वतन्त्र व समर्थ हैं, उसकी इच्छाको रखना चाहते हैं—इससे बड़ी भूल और क्या होगी? यह भूल ही बन्धनका, सब पाप, दुःख, संताप, नरक आदिका कारण है।

जो नहीं है, उसको 'है' मानकर उसको पानेकी अथवा मिटानेकी इच्छा करना और उससे भयभीत होना असत्‌का संग है। उसकी उपेक्षा करना है। दशाको न देखकर सत्ताको देखना सत्‌का संग है।

१-काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३।३७)

२-त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (गीता १६।२१)

(१०)

दोषोंका भाव विद्यमान नहीं है और निर्दोषताका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् दोषोंकी सत्ता है ही नहीं और निर्दोषता स्वतःसिद्ध है। कोई भी दोष स्थायी नहीं रहता, आता-जाता है और उसके आने-जानेका ज्ञान जिसको होता है, वह (निर्दोष तत्त्व) स्थायी रहता है। तात्पर्य है कि दोषोंका ज्ञान दोषीको नहीं होता, प्रत्युत निर्दोषको होता है और निर्दोषतासे ही होता है। दोषोंके आने-जानेका ज्ञान तो सबको होता है, पर अपने आने-जानेका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता; क्योंकि दोष असत् हैं और हमारा निर्दोष स्वरूप सत् है। हमारेमें दोष हैं—ऐसा मानना ही दोषोंको निमन्त्रण देना है, उनको अपनेमें स्थापन करना है। अगर दोष हमारेमें होते तो फिर जैसे हम निरन्तर रहते हैं, ऐसे ही वे भी निरन्तर रहते और उनका कभी अभाव नहीं होता। दूसरी बात, अगर दोष हमारेमें होते तो हम सर्वांशमें दोषी होते, सबके लिये दोषी होते और सदाके लिये दोषी होते। परन्तु कोई भी मनुष्य सर्वांशमें दोषी नहीं होता, सबके लिये दोषी नहीं होता और सदाके लिये दोषी नहीं होता।

दोषोंको सत्ता हमने ही दी है, इसलिये दोषोंका आना-जाना हमें दीखता है। अगर दोषोंकी सत्ता न मानें तो दोष हैं ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'। जैसे सूर्यमें अमावास्याकी रात नहीं आ सकती, ऐसे ही नित्य स्वरूपमें अनित्य दोष नहीं आ सकते। जैसे परमात्मा निर्दोष हैं—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५। १९), ऐसे ही उनका अंश जीवात्मा भी निर्दोष है—'**अविकार्योऽयमुच्यते**' (गीता २। २५), '**ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज**

सुख रासी॥' (मानस, उत्तर० ११७। १) अतः दोषोंको अपनेमें माननना और दूसरोंमें मानना—दोनों ही गलती है।

अपनेमें दोषोंकी स्थापना हमने ही की है। हमने ही उनको सत्ता देकर दृढ़ किया है। अतः दोषोंको सत्ता न देकर अपनेमें और दूसरोंमें निर्दोषताकी स्थापना करना अर्थात् निर्दोषताका अनुभव करना हमारा कर्तव्य है। अपनेमें और दूसरोंमें निर्दोषताका अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान है, जीवन्मुक्ति है।

(११)

हमारी सत्ता किसी वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश होता है, प्रत्येक व्यक्तिका जन्म (संयोग) और मरण (वियोग) होता है एवं प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु इन तीनोंको जाननेवाली हमारी चिन्मय सत्ताका कभी उत्पत्ति-विनाश, जन्म-मरण (संयोग-वियोग) और आरम्भ-अन्त नहीं होता। वह सत्ता नित्य-निरन्तर स्वतः ज्यों-की-त्यों रहती है। उस सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**'। उस सत्तामें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिके अनुभवका नाम ही जीवन्मुक्ति है।

मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परन्तु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला

अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। यह मनुष्यमात्रका अनुभव है कि सुषुप्तिके समय वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना भी हम स्वतः रहते हैं; परन्तु हमारे बिना वस्तु, व्यक्ति और क्रिया नहीं रहती। जब जाग्रत्में भी हम इनके बिना रहनेका स्वभाव बना लेंगे, तब हम स्वाधीन अर्थात् मुक्त हो जायँगे। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धकी मान्यता ही हमें स्वाधीन नहीं होने देती और हमारे न चाहते हुए भी हमें पराधीन बना देती है।

हमें विचार करना चाहिये कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सदा हमारे पास रहेगी और हम सदा उसके पास रहेंगे? ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो सदा हमारे साथ रहेगा और हम सदा उसके साथ रहेंगे? ऐसी कौन-सी क्रिया है, जिसको हम सदा करते रहेंगे और जो सदा हमसे होती रहेगी? सदाके लिये हमारे साथ न कोई वस्तु रहेगी, न कोई व्यक्ति रहेगा और न कोई क्रिया रहेगी। एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

विचार करें, वस्तु पासमें रहते हुए भी हम रहते हैं और वस्तु पासमें न रहते हुए भी हम वही रहते हैं। व्यक्ति साथमें रहते हुए भी हम रहते हैं और व्यक्ति साथमें न रहते हुए भी हम वही रहते हैं। क्रिया करते समय भी हम रहते हैं और क्रिया न करते समय भी हम वही रहते हैं। इन दोनों अवस्थाओंका अनुभव सबको है। इससे सिद्ध होता है कि हमारा अस्तित्व (होनापन) वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। हमें वस्तु, व्यक्ति

और क्रियाकी अपेक्षा, आवश्यकता भी नहीं है, प्रत्युत उनको ही हमारी आवश्यकता है। अतः हम स्वतन्त्र हैं। हम वस्तुकी उत्पत्तिको भी देखते हैं और विनाशको भी देखते हैं, व्यक्तिके संयोगको भी देखते हैं और वियोगको भी देखते हैं, क्रियाके आरम्भको भी देखते हैं और अन्तको भी देखते हैं। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—तीनोंके अभावका तो हमें अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। अपने इस अनुभवमें नित्य-निरन्तर स्थित रहना साधकका काम है। यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत जागृति है। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका संयोग अनित्य है, पर वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करनेसे नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सर्वत्र परिपूर्ण उस परमात्मसत्तामें स्वतः स्थिति हो जाती है, जिसके लिये गीताने कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। (गीता ९। ४)

'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।'

(१२)

असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है—इसका तात्पर्य है कि जो भी सत्ता दीखती है, वह असत्‌की न होकर सत्-तत्त्वकी ही है। इस सत्ताको अस्वीकार कोई कर ही नहीं सकता। कोई परमात्माकी सत्ता मानता है, कोई आत्माकी सत्ता मानता है और कोई जगत्‌की सत्ता मानता है। अगर कोई कहे कि मैं किसीकी भी सत्ता नहीं मानता तो वह अपनी सत्ता तो मानता ही है! तात्पर्य यह है कि किसी-न-किसी रूपमें सत्-तत्त्व ('है')-की

सत्ताको सभी स्वीकार करते हैं, भले ही वे उसका नाम कुछ भी रख दें। सत्ताका त्याग कोई कर सकता ही नहीं। कारण कि सत्ताका निषेध करनेसे अपना निषेध हो जायगा, जबकि अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

(१३)

जिसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् जो प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें विद्यमान है, उस तत्त्वकी प्राप्ति कुछ करनेसे नहीं होती। कारण कि जो विद्यमान है, उसकी अप्राप्ति होती ही नहीं। हम कुछ करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है; अतः क्रिया करनेसे उसीकी प्राप्ति होगी, जो विद्यमान नहीं है। परन्तु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रत्येक प्राणीमें क्रियाका वेग रहता है, जो उसको क्रियारहित नहीं होने देता।[१] क्रियाका वेग शान्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जो नहीं करना चाहिये, उसको न करें और जो करना चाहिये, उसको निर्मम तथा निष्काम होकर करें अर्थात् अपने लिये कुछ न करें, प्रत्युत केवल दूसरेके हितके लिये ही करें।[२]

१-न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३।५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि (प्रकृतिके) परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म कराते हैं।'

२-न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता ३।४)

'मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है।'

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। (गीता ६।३)

अपने लिये करनेसे क्रियाका वेग कभी समाप्त नहीं होगा; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य है और कर्म अनित्य हैं। अतः दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त होकर प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और सब देश, काल आदिमें विद्यमान सत्-तत्त्व प्रकट हो जायगा, उसका अनुभव हो जायगा।

(१४)

साधक भूत और भविष्यकी जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और क्रियाओंको महत्त्व देता है, उनका चिन्तन बिना किये और बिना चाहे स्वतः होता रहता है। उस स्वतः होनेवाले चिन्तनको मिटानेके लिये साधक परमात्माका चिन्तन करता है। परन्तु यह सिद्धान्त है कि होनेवाले चिन्तनको किये गये चिन्तनसे नहीं मिटाया जा सकता। चिन्तन करनेसे करनेके नये संस्कार पड़ते हैं, जिससे वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत और पुष्ट होता है। स्वतः होनेवाला चिन्तन स्वतः होनेवाले चिन्तनसे अथवा चुप होनेसे ही मिट सकता है। तात्पर्य है कि सत्-तत्त्वका अनुभव होनेपर, निष्काम होनेपर, बोध होनेपर, प्रेम होनेपर संसारका स्वतः होनेवाला चिन्तन मिट जाता है। चुप होनेका तात्पर्य है कि साधक स्वतः होनेवाले चिन्तनकी उपेक्षा कर दे, उससे उदासीन हो जाय अर्थात् उसको न ठीक समझे, न बेठीक समझे और न अपनेमें समझे तथा अपनी तरफसे कोई नया चिन्तन भी न करे। वह न चिन्तन करनेसे मतलब रखे, न चिन्तन नहीं करनेसे मतलब रखे। वह न तो किये जानेवालेका कर्ता बने और न होनेवालेका भोक्ता बने। ऐसा करनेसे साधक

'जो योग (समता)-में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण है।'

धीरे-धीरे अचिन्त्य हो जायगा। परन्तु अचिन्त्य होनेका, सुख लेनेका भी आग्रह नहीं रखना है। ऐसा होनेपर साधक चिन्तन करने और चिन्तन होने—दोनोंसे रहित हो जायगा—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**'। (गीता ३।१८); क्योंकि करनेमें कर्मेन्द्रियोंका और होनेमें अन्त:करणका सम्बन्ध होनेसे करना और होना—दोनों ही अनित्य हैं। करने और होनेसे रहित होनेपर 'है' (सत्-तत्त्व)-में अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जायगा।

(१५)

असत्का भाव विद्यमान नहीं है अर्थात् असत्का भाव निरन्तर अभावमें बदल रहा है। परन्तु 'असत्का भाव विद्यमान नहीं है'—इस बातका ज्ञान अभावमें नहीं बदलता। इस ज्ञानमें हमारी स्थिति स्वत:सिद्ध है। देह तो निरन्तर अभावमें बदल रहा है; अत: देह नहीं है, प्रत्युत देही (स्वरूप) ही है। देहीकी सत्ता देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे सर्वथा अतीत है।

असत्का भाव निरन्तर अभावमें जा रहा है; अत: असत् नहीं है, प्रत्युत सत् ही है। असत्की केवल मान्यता है। असत्की यह मान्यता ही सत्की स्वीकृति नहीं होने देती। गलत मान्यता सही मान्यता करनेसे मिट जाती है। वास्तवमें न सही मान्यता है, न गलत मान्यता है, केवल सत्तामात्र है।

जैसे हाथ, पैर, नासिका आदि शरीरके अंग हैं, ऐसे असत् सत्का अंग भी नहीं है। जो बहनेवाला और विकारी होता है, वह अंग नहीं होता*; जैसे—कफ, मूत्र आदि बहनेवाले और

---

* अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥

फोड़ा आदि विकारी होनेसे शरीरके अंग नहीं होते। ऐसे ही असत् बहनेवाला और विकारी होनेके कारण सत्‌का अंग नहीं है।

(१६)

भूतकाल और भविष्यकालकी घटना जितनी दूर दीखती है, उतनी ही दूर वर्तमान भी है। जैसे भूत और भविष्यसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही वर्तमानसे भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। जब सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भूत, भविष्य और वर्तमानमें क्या फर्क हुआ? ये तीनों कालके अन्तर्गत हैं, जबकि हमारा स्वरूप कालसे अतीत है। कालका तो खण्ड होता है, पर स्वरूप (सत्ता) अखण्ड है। शरीरको अपना स्वरूप माननेसे ही भूत, भविष्य और वर्तमानमें फर्क दीखता है। वास्तवमें भूत, भविष्य और वर्तमान विद्यमान है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'।

(१७)

संसारमें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'अभाव' मुख्य रहता है। परमात्मामें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'भाव' मुख्य रहता है। संसारमें 'अभाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं और परमात्मामें 'भाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें 'नित्यवियोग' के अन्तर्गत संयोग-वियोग हैं और परमात्मामें 'नित्ययोग' के अन्तर्गत योग-वियोग (मिलन-विरह) है। अतः संसारमें अभाव ही रहा और परमात्मामें भाव ही रहा।

(१८)

असत्‌का भाव नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है; अतः सत् स्वतः विद्यमान है। जो स्वतः विद्यमान है, वही परमात्मा हैं। जो पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और अभी नहींमें जा रहा है,

उसे सत्ता देना, महत्ता देना और उससे सम्बन्ध जोड़ना ही खास बाधा है। अतः उसे सत्ता न दे, महत्ता न दे और उससे सम्बन्ध न जोड़े अर्थात् उसे अपना न माने। जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसको ही सत्ता दे, उसको ही महत्ता दे और उसीको अपना माने। जो नहीं है, उसका महत्त्व कैसा? महत्त्व तो उसीका है, जो है और वही अपना है।

जो नहीं है, उससे तटस्थ, बेपरवाह, निर्लेप, निरपेक्ष, उदासीन, विमुख होना है; उससे चिपकना नहीं है। वास्तवमें हम असत् (वस्तु, व्यक्ति और क्रिया)-से निर्लेप हैं; क्योंकि हम उसके भाव-अभावको, उत्पत्ति-विनाशको, संयोग-वियोगको और आदि-अन्तको जानते हैं। इस प्रकार अपनेको निर्लेप अनुभव करके चुप हो जायँ अर्थात् चुप होकर स्थित रहें तो स्वतःसिद्ध सत्ता (सत्-तत्त्व)-का स्पष्ट अनुभव हो जायगा। वास्तवमें सत्-तत्त्व स्वतःसिद्ध है, केवल असत्‌से विमुख होना है। अगर हम असत्‌को अस्वीकार कर दें तो वह रहेगा ही नहीं; क्योंकि वह है ही नहीं, उसमें रहनेकी ताकत ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**'।

श्रीमद्भागवतमें आया है—'**ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः**' (१०।१४।२८) 'सन्तलोग संसारका त्याग करते हुए परमात्मतत्त्वकी खोज करते हैं'। खोजनेसे वह चीज मिलती है, जो पहले ही मौजूद हो। उसको खोजनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते जाना। छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानना तथा उससे अपना सम्बन्ध न मानना, उसको अस्वीकार करना।

४. नित्यप्राप्तकी प्राप्ति

साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञान, मुक्ति आदि चाहता है तो उससे एक मूल भूल यह होती है कि वह संसारके सम्बन्धको, जन्म-मरणको तो स्वाभाविक मान लेता है और परमात्मप्राप्तिको अस्वाभाविक (कृतिसाध्य) मान लेता है। उसके भीतर ये बातें जँची हुई रहती हैं कि जन्म-मरण तो सदासे चले आ रहे हैं और मुक्ति हमारे करनेसे होगी; संसारकी प्राप्ति तो पहलेसे है, पर परमात्माकी प्राप्ति नया काम है; संसार तो नजदीक है, पर परमात्मा दूर हैं; संसार तो प्राप्त ही है, पर परमात्मा प्राप्त होते हैं कि नहीं होते—इसका पता नहीं, संसार तो है पर परमात्मा हैं कि नहीं, पता नहीं; संसार तो हमारे सामने है, पर परमात्मा सामने नहीं दीखते; आदि-आदि। परन्तु वास्तवमें संसारकी प्राप्ति अस्वाभाविक है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति स्वाभाविक है। दूसरे शब्दोंमें, संसारका सम्बन्ध कृत्रिम (बनावटी) है और परमात्माका सम्बन्ध वास्तविक है। बनावटी बात टिक नहीं सकती और वास्तविक बात मिट नहीं सकती।

यह सबके अनुभवकी बात है कि बालकपना चला गया, जवानी चली गयी, रोग चला गया, नीरोगता चली गयी, निर्धनता चली गयी, धनवत्ता चली गयी, पर हम चले गये क्या? ऐसे ही सब संसार बदल गया, पर परमात्मा बदल गये क्या? तात्पर्य है कि शरीर तथा संसार बदलनेवाले हैं और हम तथा परमात्मा नहीं बदलनेवाले हैं। इसलिये शरीर और संसार एक हैं, हम और परमात्मा एक हैं। शरीर और संसार एक होनेके कारण ही संसार

शरीरको प्राप्त दीखता है। परन्तु शरीरमें अहंता-ममता करनेसे अर्थात् उसको मैं-मेरा माननेसे शरीर हमें प्राप्त दीखता है। वास्तवमें शरीर-संसार कभी किसीको प्राप्त हुए ही नहीं, हो सकते ही नहीं। अप्राप्तको प्राप्त माननेके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त दीख रहे हैं।

हमारा स्वरूप नित्य ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। अगर यह नित्य ज्यों-का-त्यों न रहे तो स्वर्ग कौन भोगेगा? नरकोंमें कौन जायगा? जन्म-मरणमें कौन जायगा? मुक्त कौन होगा? परमात्मा भी नित्य ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं। हमने संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ रखा है। अगर इस बनावटी सम्बन्धका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति और संसारकी अप्राप्ति स्वतःसिद्ध है। भूल यही होती है कि हम संसारकी सत्ताको नित्य मान लेते हैं और मुक्तिकी सत्ताको अनित्य मान लेते हैं। इसलिये हमारी ऐसी धारणा रहती है कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध स्वतः है और इस सम्बन्धको हम छोड़ेंगे तो मुक्ति हो जायगी अथवा संसारका सम्बन्ध छूटना बड़ा मुश्किल है, मोक्षकी प्राप्ति बड़ी कठिन है, परमात्माको प्राप्त करनेमें समय भी बहुत लगेगा और परिश्रम भी होगा, आदि।

वास्तवमें संसारका सम्बन्ध कभी टिकता नहीं, कभी टिका नहीं, कभी टिकेगा नहीं, टिक सकता ही नहीं। ऐसे ही परमात्माका सम्बन्ध कभी मिटता नहीं, कभी मिटा नहीं, कभी मिटेगा नहीं, मिट सकता ही नहीं। संसारसे संयोग और परमात्मासे वियोग केवल हमारा माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये जो साधनमें लगे हुए हैं, उनके मनमें कभी संसारकी

आसक्ति आ जाय, सत्ता आ जाय तो समझना चाहिये कि भीतर जो कूड़ा-कचरा पड़ा हुआ है, वह निकल रहा है। मनुष्य दरवाजेसे आता हुआ भी दीखता है और जाते हुए भी दीखता है। अतः भीतरका कूड़ा-कचरा जाते हुए दीख रहा है। उसको मिटानेकी चेष्टा करेंगे तो वह उलटे दृढ़ होगा। किसी भी विपरीत बातको मिटानेकी चेष्टा करेंगे तो मिटानेकी चेष्टा तो दो नम्बरकी होगी, पर उसको जमाने (दृढ़ करने)-की चेष्टा एक नम्बरकी होगी। कारण कि हम उसीको मिटानेकी चेष्टा करते हैं, जिसकी हम सत्ता स्वीकार करते हैं। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको क्या मिटायें? इसलिये उसको मिटानेकी जरूरत नहीं है। उसकी उपेक्षा कर दें तो वह स्वतः मिट जायगी; क्योंकि वह निरन्तर मिट ही रही है। तात्पर्य है कि अज्ञान अपने-आप मिट रहा है, बन्धन अपने-आप छूट रहा है, साधक उसको मिटानेका उद्योग नहीं करे, प्रत्युत उसकी उपेक्षा कर दे, उसकी बेपरवाह कर दे, उससे उदासीन हो जाय। जैसे एक छोटी-सी दियासलाईसे प्रकट हुई अग्निमें इतनी ताकत है कि वह घासके ढेरको जला देती है, ऐसे ही असत्‌की उपेक्षामें इतनी ताकत है कि वह असत्‌को मिटाकर सत्‌का साक्षात्कार करा देगी। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२।४०)

'इस (समतारूपी) धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (जन्म-मरणरूप) महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

—इसका कारण यह है कि निष्कामभाव थोड़ा होते हुए भी

सत्य है और भय महान् होते हुए भी असत्य है। जैसे मनभर रूई हो तो उसको जलानेके लिये मनभर अग्निकी जरूरत नहीं है। रूई एक मन हो या सौ मन, उसको जलानेके लिये एक दियासलाई पर्याप्त है। एक दियासलाई लगाते ही वह रूई खुद दियासलाई अर्थात् अग्नि बन जायगी। रूई खुद दियासलाईकी मदद करेगी। अग्नि रूईके साथ नहीं होगी, प्रत्युत रूई खुद ज्वलनशील होनेके कारण अग्निके साथ हो जायगी। इसी तरह असंगता आग है और संसार रूई है। संसारसे असंग होते ही संसार अपने-आप नष्ट हो जायगा; क्योंकि मूलमें संसारकी सत्ता न होनेसे उससे कभी संग हुआ ही नहीं।

थोड़े-से-थोड़ा त्याग भी सत् है और महान्-से-महान् क्रिया भी असत् है। क्रियाका तो अन्त होता है, पर त्याग अनन्त होता है। इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ तो फल देकर नष्ट हो जाती हैं*, पर त्याग कभी नष्ट नहीं होता—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। एक अहम्के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्ने ही सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रखा है।

जैसे, कितनी ही घास हो, क्या अग्निके सामने टिक सकती है? कितना ही अँधेरा हो, क्या प्रकाशके सामने टिक सकता है?

---

* वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

'योगी इसको (शुक्ल और कृष्णमार्गके रहस्यको) जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

अँधेरे और प्रकाशमें लड़ाई हो जाय तो क्या अँधेरा जीत जायगा? ऐसे ही अज्ञान और ज्ञानकी लड़ाई हो जाय तो क्या अज्ञान जीत जायगा? महान्-से-महान् भय क्या अभयके सामने टिक सकता है? पहलेके कितने ही संस्कार पड़े हुए हों, क्या सत्संगसे वे जीत जायँगे? समता थोड़ी हो तो भी पूरी है और भय महान् हो तो भी अधूरा है। स्वल्प भी महान् है; क्योंकि वह सच्चा है और महान् भी स्वल्प (सत्ताहीन) है; क्योंकि वह कच्चा है।

प्रश्न—समता, निष्कामभावको 'स्वल्प' (थोड़ा) कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—निष्कामभाव तो महान् है, पर हमारी समझमें, हमारे अनुभवमें थोड़ा आनेसे उसको स्वल्प कह दिया है। वास्तवमें समझ थोड़ी हुई, समता थोड़ी नहीं हुई। उधर हमारा खयाल कम गया है, दृष्टि कम गयी है तो हमारी दृष्टिमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसी तरह हमने असत्को ज्यादा आदर दे दिया तो असत् महान् नहीं हुआ, प्रत्युत हमारा आदर महान् हुआ। इसलिये अगर हम सत्का अधिक आदर करें तो सत् महान् हो जायगा अर्थात् उसकी महत्ताका अनुभव हो जायगा, और असत्का आदर न करें तो असत् स्वल्प हो जायगा। वास्तवमें असत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' और सत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता नित्य-निरन्तर है—'**नाभावो विद्यते सतः**'। इसलिये उपनिषद्ने परमात्मतत्त्वको अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् कहा है—'**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' (कठ० १। २। २०; श्वेताश्वतर० ३। २०)।

जिसकी सत्ता ही नहीं है, उस असत्‌का आदर करना, उसको महत्त्व देना बहुत बड़ी भूल है। कभी साधकके मनमें उसकी सत्ता आ जाय तो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये; क्योंकि जो कभी है और कभी नहीं है, उसकी सत्ता कभी नहीं है। जो किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें है और किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें नहीं है, वह वास्तवमें किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें नहीं है अर्थात् उसका स्वतःसिद्ध नित्य अभाव है। परन्तु असत्‌को सत्य मान लिया और सम्पूर्ण देश-कालादिमें नित्य-निरन्तर विद्यमान परमात्माको उद्योगसाध्य मान लिया—यह भूल है। जैसे, हम कहते हैं कि सूर्य बादलसे ढक गया, तो जो सूर्य पृथ्वीमण्डलसे भी बड़ा है, वह छोटे-से बादलसे कैसे ढक जायगा? अतः वास्तवमें सूर्य नहीं ढका जाता, प्रत्युत हमारी आँख ढक जाती है। ऐसे ही परमात्मतत्त्व नहीं ढका जाता, प्रत्युत हमारी बुद्धि ढकी जाती है। बुद्धिमें असत्‌की सत्ता बैठी हुई है, इसलिये परमात्मा दीखते नहीं। तात्पर्य है कि असत्‌की सत्तारूपसे जो धारणा है, यही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है।

अगर हम सच्चे हृदयसे साधनमें लगे हुए हैं, सत्संग कर रहे हैं, तो असत्‌की निवृत्ति करनी नहीं पड़ेगी, प्रत्युत उसकी निवृत्ति स्वतः हो जायगी। जैसे, छोटा बच्चा माँकी गोदमें प्रतिदिन वैसा-का-वैसा ही दीखता है; परन्तु एक महीनेके बाद देखें तो उसमें फर्क दीखेगा, एक वर्षके बाद देखें तो और अधिक फर्क दीखेगा। ऐसे ही सत्संग करते हुए हम वैसे-के-वैसे ही दीखते हैं, पर वास्तवमें वैसे नहीं रहते। पहलेवाली दशाको याद करें

और अभीकी दशा देखें, दोनोंका मिलान करें, तब पता लगेगा। जो व्यक्ति सत्संग नहीं करते हैं, उनसे मिलें, तब पता लगेगा। हम तो सत्संगमें लग गये, पर हमारे जो मित्र सत्संगमें नहीं लगे, उनसे मिलें, तब पता लगेगा। फिर भी तत्काल सिद्धि न होनेमें मूल कारण हमारी यह मान्यता है कि बन्धनमें तो हम हैं, मुक्ति हमें करनी है! व्याख्यान देनेवालोंसे, कथा करनेवालोंसे और पुस्तकोंसे भी यही बात मिलेगी कि अज्ञान सदासे है, हम सदासे जन्म-मरणमें पड़े हुए हैं, इसको मिटाना है और तत्त्वज्ञानको, मुक्तिको, परमात्माको प्राप्त करना है! परन्तु यह तत्त्वकी बात नहीं है। तत्त्वकी बात तो यह है कि जो नित्यनिवृत्त है, उसीकी निवृत्ति करनी है और जो नित्यप्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है। जो नित्यनिवृत्त है, नित्य अप्राप्त है, उसको हमने सत्ता और महत्ता दे दी, इसीलिये नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें समय लग रहा है।

गीता कहती है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) 'जो असत् है, उसका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका अभाव ही है और जो सत् है, उसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका भाव ही है।' जो 'नहीं' है, वह असत् है और जो 'है', वह सत् है। 'नहीं' में 'है'-बुद्धि और 'है' में 'नहीं'-बुद्धि—यह विपरीत धारणा ही परमात्मप्राप्तिमें बाधक हो रही है। हमारे देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो भी संसार आ रहा है, वह सब-का-सब एक क्षण भी टिकता नहीं, प्रतिक्षण बह रहा है; परन्तु उसकी हमने सत्ता मान ली और जो सबमें ज्यों-का-त्यों पूर्ण है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उस परमात्माका अभाव मान लिया। इस

विपरीत धारणाको हमने इतना दृढ़ कर लिया है कि विचारके द्वारा इसको हटानेपर भी यह धारणा पुनः सामने आ जाती है। इसका संस्कार हमारे भीतर दृढ़तासे पड़ा हुआ है। परमात्मा पहले युगोंमें और थे, अब बदलकर और हो गये हैं—ऐसा किसी शास्त्र, कथा आदिमें पढ़ने-सुननेमें नहीं आता। परन्तु शरीर बालकपनमें जैसा था, वैसा आज नहीं है—यह सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। फिर भी हम शरीरको जितना महत्त्व देते हैं, उतना परमात्माको नहीं देते, इसीलिये परमात्मप्राप्ति कठिन हो रही है। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने कहा था कि 'परमात्माकी प्राप्ति भी कठिन हो सकती है—यह बात मेरी समझमें नहीं आती थी; परन्तु जब लोगोंपर आजमाइश की, उनको समझानेका प्रयास किया, तब हमें कठिनता मालूम दी।' हमारे भीतर असत्‌की सत्ता बैठी हुई है, इसीलिये परमात्मप्राप्तिमें कठिनता दीख रही है, अन्यथा इसमें कठिनताका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अभी कोई कहे कि रोटी बनाओ तो रोटी बनानेमें समय लगेगा। रोटी बनेगी, तब मिलेगी; क्योंकि वह मौजूद नहीं है। परन्तु जो चीज मौजूद है, उसकी प्राप्तिमें देरी क्यों? परमात्मा सबके लिये सदा ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं।

प्रश्न—यह तो हम जानते ही हैं कि परमात्माकी सत्ता है और संसारकी सत्ता नहीं है, फिर भी अनुभव क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तर—वास्तवमें इसको जाना नहीं है, प्रत्युत सीखकर मान लिया है। अगर यह जान लें कि साँप काटनेसे आदमी मर जाता है तो क्या साँपको हाथसे पकड़ेंगे? ऐसे ही अगर यह जान लें

कि यह असत् है, नाशवान् है तो क्या रुपये इकट्ठे करनेकी मनमें आयेगी? सुख भोगनेकी मनमें आयेगी? झूठ, कपट, बेईमानी करनेकी मनमें आयेगी?

किसी आदमीसे पूछो तो वह यही कहेगा कि हम अभी थोड़े ही मरते हैं! पर वास्तवमें जो भी मरता है, अभी मरता है। मरनेवाला अभी नहीं मरेगा तो क्या कल मरेगा अथवा परसों मरेगा? मरनेवाला जब मरेगा, अभी मरेगा। परन्तु भीतर उलटी बात जँची हुई है कि हम अभी थोड़े ही मरते हैं! कारण यही है कि भीतरमें असत्‌की सत्ता बैठी हुई है।

हम धन कमा लेंगे, पढ़-लिखकर विद्वान् बन जायँगे, कई बातें सीख जायँगे, कला-कौशल सीख जायँगे आदि कृतिसाध्य बातोंकी तो हमें उम्मीद रहती है, पर जो स्वतः नित्य-निरन्तर विद्यमान है, उस परमात्मतत्त्वकी उम्मीद ही नहीं होती! उसकी तो तत्काल प्राप्तिकी उम्मीद होनी चाहिये। उसकी तत्काल प्राप्ति इसलिये होनी चाहिये कि वह भी मौजूद है और हम भी मौजूद हैं तथा वे भी हमसे मिलना चाहते हैं और हम भी उससे मिलना चाहते हैं। फिर देरीका कारण क्या है? हमारे मनमें असत्‌की सत्ता और महत्ता बैठी हुई है, इसीलिये देरी हो रही है।

५. सर्वत्र भगवद्दर्शनका साधन

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९। ४-५)

'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें स्थित हैं; परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा वे प्राणी भी मेरेमें स्थित नहीं हैं—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योग (सामर्थ्य)-को देख! सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला और उनको धारण, भरण-पोषण करनेवाला मेरा स्वरूप उन प्राणियोंमें स्थित नहीं है।'

भगवान्‌ने इस बातको समझनेके लिये आकाश और वायुका दृष्टान्त दिया है—'**यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्**' (गीता ९। ६)। भगवान्‌की दृष्टिसे यह सिद्धान्त बहुत ठीक है; क्योंकि जैसे आकाश और वायु निराकार हैं, ऐसे ही परमात्मा और सूक्ष्म तथा कारण संसार भी निराकार हैं। बादल आकाशमें सर्वत्रग (सब जगह विचरनेवाले) नहीं होते, पर वायु सर्वत्रग होती है। परन्तु हम यहाँ सुगमतापूर्वक समझनेकी दृष्टिसे आकाश और बादलका दृष्टान्त देते हैं; क्योंकि जैसे हमें आकाश नहीं दीखता, पर बादल दीखते हैं, ऐसे ही परमात्मा नहीं दीखते, पर संसार दीखता है। बादल आकाशमें ही रहते हैं; क्योंकि आकाश असीम है, बादल सीमित हैं। आकाश बादलोंमें रहता

है; क्योंकि उन बादलोंके कण-कणमें आकाश परिपूर्ण है। आकाशमें बादल और बादलोंमें आकाश होनेपर भी आकाश तो हरदम रहता है, पर बादल हरदम नहीं रहते, प्रत्युत बनते हैं और मिट जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परमात्मा तो सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं, पर संसार बनता है और मिट जाता है।

भगवान् कहते हैं कि मेरे निराकार स्वरूपसे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है तो जगत्के अन्तर्गत हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और अहम् (मैंपन) भी आ जाते हैं। अतः हमारे शरीरमें भी परमात्मा हैं, इन्द्रियोंमें भी परमात्मा हैं, मनमें भी परमात्मा हैं, बुद्धिमें भी परमात्मा हैं, प्राणोंमें भी परमात्मा हैं और अहम्में भी परमात्मा हैं। तात्पर्य है कि हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और अहम्के सहित यह सम्पूर्ण संसार परमात्मामें ही है। यह परमात्मासे अलग नहीं हो सकता और परमात्मा इससे अलग नहीं हो सकते। ये दो विभाग हुए। एक विभाग (संसार) निरन्तर बदलता रहता है और एक विभाग (परमात्मा) कभी नहीं बदलता।

आगे भगवान् कहते हैं कि संसार मेरेमें नहीं है और मैं संसारमें नहीं हूँ। जैसे, आकाशमें बादल नहीं हैं और बादलोंमें आकाश नहीं है; क्योंकि आकाश नित्य है, बादल अनित्य (उत्पन्न और नष्ट होनेवाले) हैं। आकाश स्वतन्त्र है, बादल परतन्त्र हैं। आकाश सर्वदेशीय है, बादल एकदेशीय हैं। ऐसे ही परमात्मा नित्य हैं, संसार अनित्य है। परमात्मा ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं, संसार बदलनेवाला है। जैसे, जहाँ बादल हैं, वहाँ

भी आकाश है और जहाँ बादल नहीं हैं, वहाँ भी आकाश है अर्थात् आकाश बादलोंके बिना भी रहता है, पर बादल आकाशके बिना नहीं रहते। ऐसे ही जहाँ संसार है, वहाँ भी परमात्मा हैं और जहाँ संसार नहीं है, वहाँ भी परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा संसारके बिना भी रहते हैं, पर संसार परमात्माके बिना नहीं रहता।* तात्पर्य यह हुआ कि जैसे आकाशके बिना बादलोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, ऐसे ही परमात्माके बिना संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

विचार करें कि बादल कैसे बनता है? बादल भापसे बनता है। भाप ठण्डकसे भी बनती है और गरमीसे भी। भापमें जल और तेज (अग्नि)—दोनों रहते हैं। सूर्यकी गरमीसे समुद्रका जल भाप बनता है और वही भाप ऊपर उठकर बादल बन जाती है। उपनिषद्में आया है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। (तैत्तिरीय० २।१)

'उस परमात्मासे पहले आकाश उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।'

वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही रहती है और आकाशमें ही लीन हो जाती है; अतः वायु आकाशरूप ही हुई। ऐसे ही अग्नि वायुसे ही पैदा होती है, वायुमें ही रहती

* परमात्माके एक अंशमें प्रकृति है और प्रकृतिके एक अंशमें सृष्टि (संसार) है। जैसे सम्पूर्ण पृथ्वीमें घड़ा बनानेकी शक्ति नहीं है, प्रत्युत उसके किसी एक अंश (चिकनी मिट्टी)-में ही घट-निर्माण-शक्ति है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्रकृतिमें सृष्टि-निर्माणकी शक्ति नहीं है, प्रत्युत उसके किसी एक अंशमें ही सृष्टि-निर्माण-शक्ति है।

है और वायुमें ही लीन हो जाती है; अतः अग्नि वायुरूप ही हुई। जैसे, फूँक मारनेसे अग्नि तेज हो जाती है। एक घड़ेमें धधकते अंगार रखकर उसका मुख बन्द कर दें तो वायुका सम्बन्ध न रहनेसे अंगार बुझ जाते हैं। अग्निसे जल पैदा होता है। जैसे, परिश्रम करनेसे (शरीरमें गरमी बढ़नेपर) पसीना आ जाता है। जल अग्निसे ही पैदा होता है, अग्निमें ही रहता है और अग्निमें ही लीन हो जाता है; अतः जल अग्निरूप ही हुआ। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो आकाश-तत्त्व ही वायु, अग्नि, जल आदि रूप धारण करता है; क्योंकि अग्निके बिना जलकी सत्ता नहीं है, वायुके बिना अग्निकी सत्ता नहीं है और आकाशके बिना वायुकी सत्ता नहीं है।* अग्निसे भाप बनती है, भापसे बादल बनते हैं और बादलोंसे वर्षा होती है तो तत्त्वसे बादल आकाशरूप ही हुए। आकाशके सिवाय बादल कोई चीज नहीं है। जबतक बादल हैं, तबतक आकाशमें बादल हैं और बादलोंमें आकाश है। जब बादल बिखर जाते हैं, तब न आकाशमें बादल रहते हैं और न बादलोंमें आकाश रहता है, प्रत्युत केवल आकाश रहता है। इसी तरह जबतक सृष्टि है, तबतक परमात्मामें सृष्टि है और सृष्टिमें परमात्मा हैं। जब सृष्टि नहीं रहती, तब न परमात्मामें सृष्टि रहती है और न सृष्टिमें परमात्मा रहते हैं, प्रत्युत केवल परमात्मा रहते हैं। तात्पर्य है कि

---

* कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है, पर स्वतन्त्र सत्ता कारणकी ही होती है अर्थात् कारणके बिना कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। घड़ेमें पानी भरा जा सकता है, पर यह विशेषता मिट्टीमें नहीं है। परन्तु मिट्टीके बिना घड़ेकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

सम्पूर्ण संसार परमात्मासे ही पैदा होता है, परमात्मामें ही रहता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है। अतः सृष्टि है, तो भी परमात्मा हैं और सृष्टि नहीं है, तो भी परमात्मा हैं। परमात्माके सिवाय सृष्टिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यही सिद्धान्त गीताको मान्य है।

गीतामें भगवान् भक्तिकी दृष्टिसे कहते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९) 'सब कुछ वासुदेव ही है' और '**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९) 'सत् और असत् मैं ही हूँ'। जब भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं तो फिर संसार कहाँ रहा? संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है, न महात्माओंकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मेरेको जाननेके बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (गीता ७। २); क्योंकि मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं—'**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय**' (गीता ७। ७)। इस तरह भक्तिके द्वारा परमात्माका 'ज्ञान' भी हो जाता है और संसारसे 'वैराग्य' भी हो जाता है; क्योंकि जब संसारकी सत्ता ही नहीं रहेगी तो फिर उसमें राग कैसे रहेगा?

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि जबतक साधकको संसार दीखता है, तबतक उसको यह मानना चाहिये कि संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है। यह शरीर भी संसारका ही एक अंश है; अतः इसमें भी परमात्मा हैं। प्राणोंमें भी परमात्मा हैं, मनमें भी परमात्मा हैं, बुद्धिमें भी परमात्मा हैं, अहम् (मैंपन)-में भी परमात्मा हैं। मैं, तू, यह,

वह—सबमें परमात्मा परिपूर्ण हैं। संसार बदल जाता है, पर परमात्मा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। शरीर बदलता है, मन बदलता है, बुद्धि बदलती है, अहम् बदलता है, पर परमात्मा सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३। १५)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं। वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आते।'

सब रूपोंमें परमात्मा ही हैं। अनन्त युगोंसे पहले भी परमात्मा थे और अनन्त युगोंके बाद भी परमात्मा रहेंगे तथा वर्तमानमें भी जड़-चेतन, स्थावर-जंगम आदि अनन्त रूपोंमें परमात्मा ही हैं। हम उनको नहीं जान सके तो यह हमारी कमी है! इसलिये भागवतमें आया है—

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है' ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों (बर्ताव)-से मेरी उपासना करता रहे।'

तात्पर्य है कि जबतक सब रूपोंमें परमात्मा न दीखें, तबतक

मन, वाणी और शरीरसे परमात्माकी उपासना करे अर्थात् मनसे किसीका बुरा मत चाहे, वाणीसे कड़ुआ मत बोले और शरीरसे किसीका बुरा मत करे। ऐसी सावधानी रखे कि मेरे मन-वाणी-शरीरसे किसीको दुःख न पहुँचे, किसीका अहित न हो। कभी भूल हो जाय तो माफी माँग ले कि 'भैया! मैं कड़ुआ बोल गया, मुझे क्षमा कर देना।' इस प्रकार उपासना (बर्ताव) करते-करते '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन (मन-वाणी-शरीरके द्वारा उपासना) करनेवाले भक्तको 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा अनुभव हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

जबतक हमें संसारकी सत्ता दीखती है, तबतक 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसी मान्यता करनी है। फिर इस मान्यताको भी छोड़कर 'चुप' (चिन्तनरहित) हो जाना है। जैसे, मकानमें जबतक कूड़ा-कचरा रहता है, तबतक झाड़ू देते हैं। जब सब कूड़ा-कचरा निकल जाता है, तब झाड़ूको भी फेंक देते हैं। ऐसे ही यह संसार कूड़ा-कचरा है और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह मान्यता झाड़ू है। जब

संसारकी सत्ता रही ही नहीं, तो फिर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा चिन्तन (मान्यता) करनेसे क्या लाभ? अतः 'भगवान् हैं'—यह चिन्तन भी छोड़कर 'चुप' हो जायँ तो स्वाभाविक तत्त्व प्राप्त हो जायगा। यह सबसे ऊँची चीज है। इससे ऊँची कोई चीज थी नहीं, है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। अगर यहाँतक हम पहुँच जायँ तो हमारा मनुष्यजन्म सफल हो जायगा। हमारा मैं-मेरापन मिट जायगा, जड़-चेतनकी ग्रन्थि मिट जायगी। कारण कि जब जड़ चीज रही ही नहीं, केवल चेतन-ही-चेतन रह गया तो फिर ग्रन्थि कैसे रहेगी? ग्रन्थि (गाँठ) तो दो चीजोंमें होती है। उपनिषद्‌में आया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २।२।८)

'कार्य-कारणस्वरूप उस परात्पर परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवके हृदयकी (अविद्यारूप) गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

जब एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता रही ही नहीं, तो फिर चिज्जडग्रन्थि कैसे रहेगी? संशय कैसे रहेंगे? पाप-पुण्य कैसे रहेंगे? सब समाप्त हो जायगा! अनुकूल-प्रतिकूल, शुद्ध-अशुद्ध, ठीक-बेठीक कुछ नहीं रहेगा, एक परमात्मा-ही-परमात्मा रह जायँगे। इस आनन्दसे बढ़कर कोई आनन्द हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। इसलिये साधकको

ठीक अनुभव करना चाहिये कि सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। यही गीताका सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यह मनुष्यजन्म बहुत जन्मोंका अन्तिम जन्म है। भगवान्ने अपनी तरफसे हमें यह अन्तिम जन्म दिया है। अब आगेका जन्म अथवा मुक्ति हमारे अधीन है। इसलिये भगवान्ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २। ७२)

'हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

जब हमने यह अनुभव कर लिया कि सब कुछ परमात्मा ही हैं; तो फिर दुबारा जन्म कहाँ होगा और क्यों होगा? परमात्माके सिवाय दूसरी चीज है ही नहीं तो जन्म कहाँ होगा? और हमें किसी वस्तुकी चाहना है ही नहीं तो जन्म क्यों होगा? जब परमात्माके सिवाय कुछ है ही नहीं तो फिर मन भी परमात्माको छोड़कर कहाँ जायगा? अतः यह बात धारण कर लें कि 'एक परमात्मा-ही-परमात्मा हैं'— यह बात हमें पता लग गयी और हमारे मनमें कोई चाहना नहीं है, कोई बुराई नहीं है तो अब हमारा दुबारा जन्म कभी हो ही नहीं सकता!

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करनेका साधन क्या है? किस तरह इसकी सिद्धि होती है?

उत्तर—अगर आप '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना चाहते हैं तो बड़ी दृढ़तासे इस बातको मान लें कि जिस शरीरको हम अपना मानते हैं, वह हमें संसारसे मिला है और छूट जायगा; अतः वह मेरा नहीं है। प्रत्यक्ष बात है कि शरीर जन्मसे पहले मेरा नहीं था और मृत्युके बाद मेरा नहीं रहेगा और अभी भी प्रतिक्षण मेरेसे अलग हो रहा है। जितनी उम्र बीत गयी, उतना तो शरीर हमसे अलग हो गया है, अब बाकी कितना रहा है, इसका पता नहीं। कर्मयोगकी दृष्टिसे शरीर संसारका है, ज्ञानयोगकी दृष्टिसे प्रकृतिका है और भक्तियोगकी दृष्टिसे परमात्माका है। शरीरको किसीका भी मानें, पर यह मेरा नहीं है—यह सर्वसिद्धान्त है। जो वस्तु मिली हुई है और बिछुड़ जायगी, वह अपनी कैसे

हुई? शरीर मिला हुआ है, बिछुड़ जायगा और निरन्तर बिछुड़ रहा है—ये तीनों बातें सन्देहरहित हैं।

इस प्रकार शरीरको संसारका मानकर संसारकी सेवामें लगा दें और शरीर, मन, वाणीसे किसीका भी बुरा न चाहें तो '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा। हमें वही सेवा करनी है, जिसको करनेकी हमारेमें सामर्थ्य है और सेवा लेनेवाला हमारेसे न्याययुक्त सेवा चाहता है। जो हमारेसे अन्याययुक्त, शास्त्रविरुद्ध सेवा चाहता है, उसको नहीं करना है। हम '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना चाहते हैं तो अन्याययुक्त काम हम नहीं करें और न्याययुक्त काम भी उतना करें, जितनी हमारी शक्ति है। एक मार्मिक बात है कि भला करनेकी अपेक्षा बुरा न करना (बुराईका त्याग) बहुत ऊँची साधना है। भलाई करनेमें जोर आता है, पर बुराई न करनेमें कोई जोर नहीं आता। बुराई न करनेसे दो बातें होंगी—केवल भलाई करेंगे अथवा कुछ भी नहीं करेंगे। कुछ भी नहीं करनेसे परमात्मामें स्वतः स्थिति होती है; क्योंकि कुछ करनेसे ही संसारमें स्थिति होती है। भलाई करनेसे अभिमान आ सकता है, पर बुराई न करनेसे अभिमान आता ही नहीं। इसलिये बुराईका त्याग करें अर्थात् न बुरा करें, न बुरा सोचें और न बुरा कहें।

भागवतमें '**वासुदेवः सर्वम्**' का साधन बताया है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(११। २९। १६)

'हँसी उड़ानेवाले अपने लोगोंको और अपने शरीरकी

दृष्टिको भी लेकर जो लज्जा आती है, उसको छोड़कर अर्थात् उसकी परवाह न करके कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा गिरकर भगवद्बुद्धिसे साष्टांग प्रणाम करे।'

जो भी प्राणी सामने आये, उसको साष्टांग प्रणाम करें। शरीरकी लज्जा आती हो तो उसको छोड़ दें और लोग हँसी उड़ाते हों तो उसकी परवाह मत करें; क्योंकि हमें उससे क्या मतलब? हमें तो '**वासुदेवः सर्वम्**' सिद्ध करना है। दृढ़ निश्चय हो जायगा तो ऐसा करनेमें कठिनता नहीं होगी। अगर कठिनता लगती हो तो मनसे ही दण्डवत् प्रणाम कर लें। ऐसा कोई प्राणी न छूटे, जिसको नमस्कार न किया हो। किसी भी वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म, सम्प्रदायका मनुष्य हो, वह भगवान् ही है। इसमें चार बातें हैं—१. इन प्राणियोंके भीतर भगवान् हैं, २. ये भगवान्के भीतर हैं, ३. ये भगवान्के हैं और ४. ये भगवान् ही हैं। चारोंमें जो सुगम लगे, वह मान लें। ये भगवान्के हैं—ऐसा मानना सबसे सुगम है। अतः ऐसा मान लें कि ये भगवान्के हैं, भगवान्को प्यारे हैं,* इसलिये हम इनको प्रणाम करते हैं। ऐसा करनेका परिणाम क्या होगा, यह भगवान् बताते हैं—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके

* 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' (मानस, उत्तर० ८६। २)

चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकारसहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।'

इसलिये मनुष्यमात्रमें भगवान्‌का भाव रखें। कहीं भाव न हो सके तो मनसे माफी माँग लें। किसीको कहनेकी, जनानेकी जरूरत नहीं। शरीर-मन-वाणीसे संसारकी सेवा करनी है और संसार भगवान्‌का विराट्‌रूप है। अतः भगवान्‌के ही शरीर-मन-वाणीसे भगवान्‌की ही सेवा करनी है। फिर '**वासुदेवः सर्वम्**' सिद्ध हो जायगा; क्योंकि यह कोई नया निर्माण नहीं है, प्रत्युत पहलेसे ही है। इसके लिये विद्याध्ययन, धन-सम्पत्ति, बल, अनुष्ठान आदिकी जरूरत नहीं है। इसको हरेक भाई-बहन कर सकता है।

सन्तोंने कहा है—

हाथ काम मुख राम है, हिरदै साची प्रीत।
दरिया गृहस्थी साध की, याही उत्तम रीत॥

हाथसे काम करते रहें और मुखसे राम-राम करते रहें। इसके साथ ही भगवान्‌से बार-बार कहते रहें कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'। किसीको बुरा मत मानें। किसीको बुरा मान लिया तो समझें कि हमारा व्रत भंग हो गया! अतः उसको प्रत्यक्ष अथवा मनसे नमस्कार करके क्षमा माँग लें। फिर भगवान्‌से प्रार्थना करें कि 'हे नाथ! मैं भूलूँ नहीं; हे प्रभो! मेरा यह साधन सिद्ध हो जाय!' एक साधु थे। उनको सत्संगमें कोई बात अच्छी लगती तो भगवान्‌से कह देते कि 'महाराज! यह बात आप अपने खजानेमें जमा कर लो, अगर मैं भूल जाऊँ तो मेरेको याद दिला देना'। भगवान्‌के समान कोई मालिक नहीं, कोई नौकर नहीं,

कोई मित्र नहीं! अचानक बैठे-बैठे भगवान्‌की याद आ जाय तो यह समझकर बड़े खुश हो जाना चाहिये कि भगवान् मेरेको याद कर रहे हैं! भगवान्‌ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा कर दी! मैं तो भूल गया था, पर भगवान्‌ने याद कर लिया, जिससे मेरेको भगवान् याद आ गये। इस प्रकार भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेनेपर '**वासुदेवः सर्वम्**' का साधन सुगम हो जायगा; क्योंकि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह बात कृपासे ही समझमें आती है, अपनी बुद्धिमानीसे, अपने उद्योगसे नहीं। उद्योग करनेसे तो कर्तृत्व आता है, जो इसके अनुभवमें बाधक है। आजतक जितने भी महात्मा हुए हैं, वे भगवत्कृपासे ही जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ और भगवत्प्रेमी हुए हैं, अपने उद्योगसे नहीं। इसलिये साधकको उद्योगका आश्रय न लेकर भगवत्कृपाका ही आश्रय लेना चाहिये। शरीर-इन्द्रियोंकी सार्थकताके लिये उद्योग करना चाहिये, पर परमात्मतत्त्व उद्योगसाध्य नहीं है।

६. भक्तिकी विलक्षणता

गीतामें भगवान्‌ने अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया है—अपरा और परा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ भेदोंवाली 'अपरा' प्रकृति है; और जिसने जगत्‌को धारण कर रखा है, वह जीवात्मा 'परा' प्रकृति है (७। ४-५)। भगवान् इन दोनों प्रकृतियोंके मालिक हैं। अपरा प्रकृति भौतिक तत्त्व है और परा प्रकृति आध्यात्मिक तत्त्व है। इन दोनोंको लेकर साधना भी दो तरहकी है—भौतिक साधना अर्थात् कर्मयोग और आध्यात्मिक साधना अर्थात् ज्ञानयोग। परन्तु जो अपरा और परा प्रकृतिके मालिक हैं, उन भगवान्‌को लेकर जो साधना है, वह आस्तिक साधना अर्थात् भक्तियोग है।

अपरा प्रकृतिको 'क्षर', परा प्रकृतिको 'अक्षर' और दोनोंके मालिक भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' नामसे भी कहा गया है (गीता १५। १६—१८)। कर्मयोग क्षरकी साधना है, ज्ञानयोग अक्षरकी साधना है और भक्तियोग पुरुषोत्तमकी साधना है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मैं अपने समग्ररूपका वर्णन करूँगा, जिसको जाननेपर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा। उसका वर्णन करनेमें मैं कुछ भी शेष नहीं रखूँगा—'**वक्ष्याम्यशेषतः**' (गीता ७। २) और उसको जाननेपर तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (७। २)। किस बातको जाननेसे कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा? इसको बताते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७। ७)

'हे धनंजय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।'

जब समग्रके सिवाय कोई वस्तु है ही नहीं तो फिर जानना बाकी क्या रहे? उस समग्र परमात्माके स्वरूपका ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है। ज्ञानमार्गमें तो परमात्माके अंश (स्वरूप)-का ज्ञान होता है, पर भक्तिमार्गमें समग्र परमात्माका ज्ञान होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, अष्टांगयोग, लययोग, राजयोग आदि जितने योग हैं, वे सब-के-सब समग्रके ज्ञानके अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु सम्पूर्ण योगियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ योगी वे हैं, जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे (प्रेमपूर्वक) मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'मेरेमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।'

इस प्रकार भक्तिको ही भगवान्ने श्रेष्ठ बताया है। भगवान्ने गीतामें कर्मयोग और ज्ञानयोगका भी वर्णन किया है और उन दोनोंको समकक्ष बताया है—'**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्**' (५। ४) अर्थात् दोनोंमेंसे किसी एक भी साधनमें स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्मतत्त्वको पा लेता है। तात्पर्य है कि साधक किसी भी एक साधनमें तत्परतापूर्वक लग जाय तो उसकी साधना सिद्ध हो जायगी। वास्तवमें एक परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेपर कोई भी साधन छोटा-बड़ा नहीं होता। परन्तु जिनका भोग भोगने और संग्रह करनेका उद्देश्य है, वे कोई भी साधन नहीं कर सकते; न कर्मयोग कर सकते हैं, न ज्ञानयोग कर सकते हैं, न ध्यानयोग कर सकते हैं, न भक्तियोग कर सकते हैं। नाशवान् पदार्थोंमें लगे होनेसे उनका भोग और संग्रह तो नष्ट हो जाता है, पर भोग और संग्रहमें उनका जो राग है, वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत उनको बार-बार जन्म-मरण देता रहता है। कारण कि पदार्थोंमें राग ही जीवको ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। इस रागके मिटनेपर ही मुक्ति होती है। इस रागको मिटानेके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधन हैं। साधकको अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताके अनुसार कोई एक साधन करके इस रागको मिटा देना चाहिये। शास्त्रमें इस रागको अज्ञानका चिह्न बताया गया है—

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

तात्पर्य है कि क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिमें जो मनका

खिंचाव, प्रियता है, यह अज्ञानका खास चिह्न है। जैसे किसी वृक्षके कोटरमें आग लग गयी हो तो वह वृक्ष हरा-भरा नहीं रहता, सूख जाता है, ऐसे ही जिसके भीतर राग-रूपी आग लगी हुई हो, उसको शान्ति नहीं मिल सकती, उसका उत्थान नहीं हो सकता। सांसारिक पदार्थ, मान, बड़ाई, प्रशंसा, आराम, सत्कार आदिका प्रिय लगना पतनका कारण है। भोगोंकी प्रियता जन्म-मरण देनेवाली और परमात्माकी प्रियता कल्याण करनेवाली है।

अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ परमात्माकी हैं; अतः इनको परमात्माके ही भेंट कर दें, अपनी न मानें। न स्थूलशरीरको अपना मानें, न सूक्ष्मशरीरको अपना मानें और न कारणशरीरको अपना मानें। स्वयं भी परमात्माका अंश होनेसे अपना नहीं है। अतः स्वयंको भी परमात्माके भेंट (समर्पित) कर दें।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं।* परंतु भक्तियोग लौकिक निष्ठा अर्थात् प्राणीकी निष्ठा नहीं है। जो भगवान्‌में लग जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है, उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। उसके साध्य भी भगवान् होते हैं और साधन भी। इसलिये भक्तियोग साधन भी है और साध्य भी, तभी कहा है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१) अर्थात् भक्तिसे भक्ति पैदा होती है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी साधन भक्ति है और इससे आगे प्रेमलक्षणा भक्ति साध्य भक्ति है। वह प्रेमलक्षणा भक्ति कर्मयोग और ज्ञानयोग सबकी साध्य

---

* लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

है। यह साध्यभक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है और उसीको हमें प्राप्त करना है।

संसारकी वस्तु संसारकी सेवामें लगा दें तो कर्मयोग हो जायगा, स्वयं संसारसे अलग हो जायँ तो ज्ञानयोग हो जायगा और भगवान्‌में लग जायँ तो भक्तियोग हो जायगा। कर्मयोगमें अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे 'नित्य सम्बन्ध' होता है अर्थात् नित्य परमात्मतत्त्वके साथ सम्बन्धका अनुभव हो जाता है। ज्ञानयोगमें स्वरूपमें स्थिति होनेसे 'तात्त्विक सम्बन्ध' होता है अर्थात् ब्रह्मके साथ सधर्मता (अभेद)-का अनुभव हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २) भक्तियोगमें अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित करनेसे 'आत्मीय सम्बन्ध' होता है अर्थात् भगवान्‌के साथ आत्मीयता (अभिन्नता)-का अनुभव हो जाता है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)।

संसारके सम्बन्धसे ही अशान्ति, हलचल होती है। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्ति हो जाती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। स्वरूपमें स्थिति होनेपर तत्त्वबोध हो जाता है। भगवान्‌के शरणागत होनेपर प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम प्राप्त हो जाता है। साधक चाहे तो संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके शान्त (नित्य) आनन्द ले ले, चाहे स्वरूपमें स्थित होकर अखण्ड आनन्द ले ले, चाहे भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़कर अनन्त आनन्द ले ले, यह उसकी मरजी है। साधक किसी भी योगका अवलम्बन ले ले, पर संसारका अवलम्बन कभी न ले। योगका अवलम्बन मुक्त करनेवाला है, पर संसारका अवलम्बन जन्म-मरण देनेवाला, पतन करनेवाला है।

लेनेका भाव जडता है और देनेका भाव चेतनता है। जो केवल

लेता-ही-लेता है, वह 'जड' (जगत्) है। अगर वह पशु, पक्षी, वृक्ष, पहाड़ आदि हो तो भी जड़ है और मनुष्य हो तो भी जड़ है। जो लेता भी है और देता भी है, वह 'जीव' (चिज्जडग्रन्थि) है। जो लेना बन्द करके देना शुरू कर देता है, वह 'साधक' है। जो किसीसे कुछ नहीं लेता, न जगत्से लेता है, न भगवान्से, वह 'सिद्ध' है। जो केवल देता-ही-देता है, वह 'भगवान्' है। भगवान् और उनके भक्त—दोनों देते-ही-देते हैं, लेते हैं ही नहीं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७।३)

लेनेकी इच्छा उसीमें होती है, जिसमें अभाव है और अभाव जड़में ही होता है, चेतनमें नहीं। लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग करनेपर कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योग सिद्ध हो जाते हैं। वास्तवमें मुक्तितक कुछ भी लेनेकी इच्छा जड़ता है, इसलिये भक्त मुक्ति भी नहीं चाहते—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(मानस, उत्तर० ११९।२)

अगर कोई ऐसा कहे कि ईश्वरकी भक्तिमें पराधीनता है, स्वाधीनता तो मुक्तिमें ही है तो उनका कहना ठीक है; परन्तु वास्तवमें भक्तिमें ही असली स्वाधीनता है। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और स्वकीय। अपने स्वरूपका नाम भी 'स्व' है और जो अपना है, उसका नाम भी 'स्व' है। परमात्मा अपने होनेसे स्वकीय हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता और निश्चिन्तता है। जैसे, बालक माँके पराधीन नहीं होता; क्योंकि माँ 'पर' नहीं है, प्रत्युत अपनी होनेसे स्वकीय है। बालकके लिये अपनी अधीनताकी अपेक्षा

माँकी अधीनता ज्यादा श्रेष्ठ है; क्योंकि माँकी अधीनतामें बालकका जितना हित है, उतना अपनी अधीनता (स्वाधीनता)-में नहीं है। माँकी अधीनतामें अपनेपर कोई जिम्मेवारी न होनेसे बालक निश्चिन्त रहता है। माँ उसका जितना खयाल रखती है, उतना वह अपना खयाल नहीं रख सकता। इसलिये रामायणमें भगवान् कहते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

(मानस, अरण्य० ४३। २)

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६। ४)

जीव परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७); '**ईस्वर अंस जीव अबिनासी**' (मानस, उत्तर० ११७। १)। परमात्माका अंश होनेसे हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं; अतः उनकी अधीनता पराधीनता नहीं है। जो इस तत्त्वमें गहरा नहीं उतरा है, उसीको ऐसा दीखता है कि भक्तिमें पराधीनता है। वास्तवमें उसने ईश्वरको 'पर' मानकर अन्य सत्ताको स्वीकार कर लिया! 'पर' वही होता है, जो बदलता है और 'स्व' वही होता है, जो कभी बदलता नहीं। शरीर बदलता है, पर स्वयं नहीं बदलता। मात्र संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। उस परमात्माके अधीन होना असली स्वाधीनता है। हमारी एकता परमात्माके साथ है और शरीरकी एकता संसारके साथ है। अतः हम और परमात्मा एक हैं, शरीर और संसार एक हैं। हम और परमात्मा अविनाशी हैं, शरीर और संसार नाशवान् हैं। नाशवान्के सम्बन्धसे पराधीनता होती है और अविनाशीके सम्बन्धसे स्वाधीनता होती है।

मीराबाईने कहा है—'**मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई**'। इसी तरह हमारे भी भगवान् ही हैं, दूसरा कोई हमारा नहीं है। यह अपना कहलानेवाला शरीर भी हमारा नहीं है, प्रत्युत पराया है। शरीर-संसारके साथ हमारा नित्य-निरन्तर वियोग है और परमात्माके साथ हमारा नित्य-निरन्तर योग है। इसलिये संसारके साथ हमारा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता और परमात्मासे हमारा सम्बन्ध कभी छूट ही नहीं सकता।

कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी अकेले होते हैं और भक्त भगवान्‌के साथ होता है। शरीर, पदार्थ, क्रिया आदि बदलनेवाली वस्तुओंके साथ अपना सम्बन्ध न मानना, उनसे असंग होना 'अकेला' होना है। कर्मयोगी त्यागसे (संसारकी वस्तु संसारमें लगाकर) असंग होता है और ज्ञानयोगी विवेकसे (संसारसे स्वयं अलग होकर) असंग होता है। 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के साथ रहना भक्तियोग है। कर्मयोगी एवं ज्ञानयोगी संसारसे असंग होते हैं, पर भक्त भगवान्‌से प्रेम करता है। असंगताकी अपेक्षा प्रेम विलक्षण है। प्रेममें जो आनन्द है, वह असंगता (मुक्ति)-में नहीं है। कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी तो स्वयं अपना उद्धार करते हैं—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६। ५); '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२। ४); परन्तु भक्तका उद्धार भगवान् करते हैं—'**तेषामहं समुद्धर्ता**' (गीता १२। ७)। अतः सभी साधनोंमें भक्ति विलक्षण है—

'**भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी।**'

(मानस, उत्तर० ४५। ३)

७. प्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता

गीतामें आया है—‘**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**’ (२। १६) अर्थात् असत् (वस्तु, व्यक्ति, क्रिया)-की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत् (परमात्मतत्त्व)-का अभाव विद्यमान नहीं है। तात्पर्य है कि असत्‌का अभाव-ही-अभाव है, सिवाय अभावके कुछ नहीं और सत्‌का भाव-ही-भाव है, सिवाय भावके कुछ नहीं। इस विवेकको महत्त्व न देकर जब मनुष्य शरीर (असत्)-को ही अपना स्वरूप मान लेता है अर्थात् शरीरमें ‘मैं’ और ‘मेरा’ कर लेता है, तब उसमें अभावकी उत्पत्ति हो जाती है। कारण कि अभावरूप असत्‌के सम्बन्धसे अभाव ही पैदा होता है। अभाव उत्पन्न होनेपर मनुष्य अभावके दुःखसे दुःखी हो जाता है। अभावके दुःखसे दुःखी होनेपर उसमें उस दुःखकी निवृत्तिके लिये कामना पैदा होती है। कामना पैदा होनेपर फिर अभाव बढ़ता ही जाता है, जिससे वह स्वाधीन नहीं रहता, प्रत्युत पराधीन हो जाता है। कारण कि एक कामना पूरी होनेपर दूसरी कामना पैदा हो जाती है और यह क्रम चलता ही रहता है। सम्पूर्ण कामनाएँ कभी किसीकी भी पूरी नहीं होतीं।

परमात्मतत्त्व सत्-चित्-आनन्दमय है। परन्तु प्रेमके आदान-प्रदानके लिये मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग करके जब मनुष्य असत्‌के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसमें सत्, चित् और आनन्दकी आवश्यकता (जिज्ञासा) उत्पन्न हो जाती है, जिसकी पूर्तिके लिये वह असत्‌की कामना करता है। मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं—यह ‘सत्’ की आवश्यकता

है। मैं सब कुछ जान लूँ, कभी अज्ञानी न रहूँ—यह 'चित्' की आवश्यकता है। मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दुःखी न रहूँ—यह 'आनन्द' की आवश्यकता है। परन्तु असत्के साथ सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह सत्-चित्-आनन्दकी आवश्यकताको असत्के द्वारा ही पूरी करना चाहता है; जैसे—वह शरीरके द्वारा जीना चाहता है, बुद्धिके द्वारा ज्ञानी बनना चाहता है और इन्द्रियाँ—अन्तःकरणके द्वारा सुखी होना चाहता है। इस प्रकार उसमें आवश्यकता तो सत्-तत्त्वकी रहती है, पर उसकी पूर्तिके लिये कामना असत्की करता है—यही उसकी मूल भूल है। असत्की कामना करनेसे न तो आवश्यकताकी पूर्ति होती है और न कामनाका नाश होता है।* अतः मनुष्य सत्-तत्त्वसे विमुख हो जाता है और असत्को ही सत्य मानकर, उसको ही महत्ता देकर उसमें आसक्त हो जाता है। वह असत्को ही अपने जीवनका लक्ष्य मान लेता है। परिणाम यह होता है कि वह पराधीन, दुःखी, क्लान्त, पराजित, अभावग्रस्त और

---

* आवश्यकता और कामना—दोनोंमें भेद है। आवश्यकता उसकी होती है, जो अविनाशी, चेतन और अपनेसे अभिन्न हो एवं कामना उसकी होती है, जो नाशवान्, जड़ और अपनेसे भिन्न हो। तात्पर्य है कि आवश्यकता नित्य-तत्त्व (सत्)-की होती है और कामना अनित्य-तत्त्व (असत्)-की होती है। इसलिये भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम, स्वरूपबोध, मोक्ष आदिकी इच्छा कामना नहीं है, प्रत्युत आवश्यकता है। यह नियम है कि आवश्यकताकी तो पूर्ति ही होती है, पर कामनाकी निवृत्ति ही होती है। कामनाकी पूर्ति होना असम्भव है।

जब जीव अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर संसार (जड़ता)-के साथ अपना सम्बन्ध (मैं-मेरापन) मान लेता है, तभी उसमें आवश्यकता और कामना—दोनोंकी उत्पत्ति होती है। चेतनकी मुख्यतासे आवश्यकता और जड़की मुख्यतासे कामना होती है। संसारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है।

अनाथ हो जाता है। इतना ही नहीं, असत्‌की आसक्ति दृढ़ होनेपर वह पराधीनतामें ही स्वाधीनता, दुःखमें ही सुख, क्लान्ति (थकावट)-में ही विश्राम, पराजयमें ही विजय, अभावमें ही भाव और अनाथपनेमें ही सनाथपना मान बैठता है और मनुष्यतासे पशुताकी ओर चला जाता है!

मनुष्य कितना ही पतित क्यों न हो जाय, उसमें सत्-चित्-आनन्दकी जिज्ञासा दब तो सकती है, पर मिट नहीं सकती। उसकी वास्तविक आवश्यकता कभी नष्ट नहीं होती। जैसे मनुष्य थोड़ी भी दरिद्रताको नहीं चाहता, ऐसे ही वह अपने नाशको, अपने अनजानपनेको और अपने दुःखको थोड़ा भी नहीं चाहता। कभी सद्‌ग्रन्थ, सद्विचार, सत्संगके द्वारा अथवा कोई आफत आनेपर भगवत्कृपासे मनुष्यकी दृष्टि असत्‌से हटकर उसके प्रकाशक सत्‌की ओर चली जाती है, वह असत्‌से विमुख होकर उसके आधार सत्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसकी रुचि असत्‌से हटकर सत्-तत्त्वमें हो जाती है, असत्‌की कामना न रहकर सत्‌की जिज्ञासा हो जाती है अर्थात् आवश्यकता और कामनाका भेद स्पष्ट हो जाता है। भेद स्पष्ट होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् असत्‌से माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता। असत्‌का सम्बन्ध मिटनेपर मनुष्यको शान्तरसका अनुभव हो जाता है। शान्तिको सत् मानकर उसका भोग न करनेसे उसको अखण्डरसका अनुभव होता है और अखण्डरसमें भी सन्तोष न करनेपर उसको अनन्तरसका अनुभव हो जाता है।

असत् (जड़ता)-से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्तरसका अनुभव

होता है और सत् (चिन्मयता)-में स्थिति होनेपर अखण्डरसका अनुभव होता है। कर्मयोगमें शान्तरसका और ज्ञानयोगमें अखण्डरसका अनुभव होता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही है* अर्थात् दोनोंके परिणाममें अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति (मोक्ष)-का अनुभव होता है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा तो नहीं रहती, पर प्रेम-पिपासा रह जाती है। इसलिये जब मुक्त पुरुषको अखण्डरसमें भी सन्तोष नहीं होता, तब उसको भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे अनन्तरस प्रदान करते हैं। अनन्तरसको ही 'प्रेम' कहते हैं। मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी तो पूर्ति होती है, पर इस प्रेमकी कभी पूर्ति नहीं होती। जैसे धनकी प्राप्ति होनेपर भी उसका लोभ बढ़ता रहता है; ऐसे ही प्रेमकी प्राप्ति अर्थात् जागृति होनेपर भी यह प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। इसलिये इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान कहा गया है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारदभक्ति० ५४)।

मोक्ष (अखण्डरस) प्राप्त होनेपर 'मैं मुक्त हूँ अथवा मैं योगी हूँ या मैं ज्ञानी हूँ'—इस प्रकार अहम्‌की एक सूक्ष्म गन्ध रहती है। अहम्‌की यह सूक्ष्म गन्ध मुक्तिमें तो बाधक नहीं होती, पर प्रेम (अनन्तरस)-की जागृतिमें बाधक होती है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें परस्पर मतभेद रहता है। प्रेम जाग्रत् होनेपर फिर मतभेद नहीं रहता। अतः प्रेमकी जागृतिमें ही पूर्णता है।

परमात्माका स्वरूप सत्-चित्-आनन्दमय है। 'सत्' में असीम,

---

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५।४-५)

अनन्त, अपार सौन्दर्य है, 'चित्' में असीम, अनन्त, अपार ऐश्वर्य है और 'आनन्द' में असीम, अनन्त, अपार माधुर्य है। सत्में सौन्दर्य इसलिये है कि अपनी सत्ताकी तरफ सबका आकर्षण होता है कि मैं सदा बना रहूँ। अपनी सत्तामें कभी अरुचि नहीं होती। चितमें ऐश्वर्य इसलिये है कि मैं इतनी बातोंका जानकार हूँ—इस तरह अपनेमें विशेष जानकारी (विद्वत्ता)-का, एक संग्रहका, एक प्रभावका अनुभव होता है।[१] आनन्दमें माधुर्य इसलिये है कि आनन्द सबको मधुर, मीठा लगता है। सत् , चित् और आनन्द तीनों एक होते हुए भी केवल दृष्टिभेदसे अलग-अलग प्रतीत होते हैं। वास्तवमें जहाँ सत् है, वहाँ चित् और आनन्द भी हैं। जहाँ चित् है, वहाँ सत् और आनन्द भी हैं। जहाँ आनन्द है, वहाँ सत् और चित् भी हैं। परमात्मतत्त्व (अंशी)-में तो सत्-चित्-आनन्द पूर्णरूपसे विद्यमान हैं, पर उनके अंश जीवमें ये आंशिक रूपसे विद्यमान हैं।

संसारमें जो सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्य दीखता है, वह प्रतिक्षण मिटनेवाला है। परन्तु संसारके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यकी दृष्टि संसारमें ही अटक जाती है, उससे आगे परमात्मतत्त्वकी तरफ जाती ही नहीं। रागके कारण वह संसारके क्षणिक सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्यको ही स्थायी तथा सत्य मान बैठता है। यद्यपि संसारमें दीखनेवाला सौन्दर्य-ऐश्वर्य-माधुर्य भी उस परमात्माके ही सौन्दर्य-ऐश्वर्य-माधुर्यकी एक आभा, झलक है[२], तथापि मनुष्य

१-राजा जनकजी कहते हैं—

धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥

(मानस, अयोध्या० २८८। २-३)

२-जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७। ४)

उसको परमात्माका न मानकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता मान लेता है और उसको ही महत्ता दे देता है। सांसारिक सौन्दर्यको महत्ता देनेसे ममता, ऐश्वर्यको महत्ता देनेसे कामना और माधुर्यको महत्ता देनेसे आसक्ति पैदा हो जाती है। परिणामस्वरूप उसका जीवन विकारी, अशान्त और परतन्त्र हो जाता है। परन्तु जब संसारसे माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता, तब ममता, कामना और आसक्तिका नाश हो जाता है और मनुष्य निर्विकार, शान्त और स्वतन्त्र हो जाता है अर्थात् संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। जब भगवान्‌की अहैतुकी कृपा उस मुक्तिको भी फीका कर देती है, तब प्रेमकी जागृति होती है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर हजार वाटके लट्टूका प्रकाश मिट तो नहीं जाता, पर सूर्यके सामने उस प्रकाशका उतना महत्त्व नहीं रहता, ऐसे ही प्रेमका उदय होनेपर निर्विकारता, शान्ति और स्वतन्त्रता मिट तो नहीं जाती, पर उनका उतना महत्त्व नहीं रहता। महत्त्व न रहनेसे 'मैं निर्विकार हूँ; मैं शान्त हूँ; मैं स्वतन्त्र हूँ'—यह सूक्ष्म अहंभाव तथा इससे पैदा होनेवाले सभी दार्शनिक मतभेद सर्वथा मिट जाते हैं अर्थात् अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि जितने भी मतभेद हैं, सब वासुदेवरूप हो जाते हैं, जो कि वास्तवमें है। इसलिये '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्तके हृदयमें किसी एक मतका आग्रह नहीं रहता, प्रत्युत सबका समान आदर रहता है। किसी एक मतका आग्रह न होनेसे उसके द्वारा किसीका भी कभी अनादर नहीं होता।

८. प्रतिकूलतामें विशेष भगवत्कृपा

मनुष्य अनुकूलताको तो चाहता है, पर प्रतिकूलताको नहीं चाहता—यह उसकी कायरता है। अनुकूलताको चाहना ही खास बन्धन है। इसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है। इस चाहनाको मिटानेके लिये ही भगवान् बहुत प्यारसे उसके हितके लिये प्रतिकूलता भेजते हैं। प्रतिकूलतामें विजातीय वस्तु (संसार)-से हमारा सम्बन्ध छूटता है। यदि जीवनमें प्रतिकूलता आये तो समझना चाहिये कि मेरे ऊपर भगवान्की बहुत अधिक, दुनियासे निराली कृपा हो गयी है। प्रतिकूलतामें कितना आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता है, क्या बताऊँ? प्रतिकूलताकी प्राप्ति मानो साक्षात् परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति है। भगवान्ने कहा है—'**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु**' (गीता १३।९)। प्रतिकूलता आनेपर प्रसन्न रहना—यह समताकी जननी है। गीतामें इस समताकी बहुत प्रशंसा की गयी है।

भगवान् विष्णु सर्वदेवोंमें श्रेष्ठ तभी हुए, जब भृगुजीके द्वारा छातीपर लात मारनेपर भी वे नाराज नहीं हुए। वे तो भृगुजीके चरण दबाने लगे और बोले कि 'भृगुजी! मेरी छाती तो बड़ी कठोर है और आपके चरण बहुत कोमल हैं; आपके चरणोंमें चोट आयी होगी!' उन्हीं भगवान्के हम अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। उनके अंश होकर भी हम इस प्रकार छातीपर लात मारनेवालेका हृदयसे आदर नहीं कर सकते तो हम क्या भगवान्के भक्त हैं? प्रतिकूलताकी प्राप्तिको स्वर्णिम अवसर मानना चाहिये और नृत्य करना चाहिये कि अहो! भगवान्की बड़ी भारी कृपा हो गयी। ऐसा कहनेमें संकोच होता है कि इस स्वर्णिम अवसरको प्रत्येक आदमी

पहचानता नहीं। यदि किसीको कहें कि 'तुम पहचानते नहीं हो' तो उसका निरादर होता है। अगर ऐसा अवसर मिल जाय और उसकी पहचान हो जाय कि इसमें भगवान्‌की बहुत विशेष कृपा है तो यह बड़े भारी लाभकी बात है।

गीतामें आया है कि जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, ऐसा पुरुष राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है और प्रसन्नता प्राप्त होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है तथा उसकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है (२। ६४-६५)। जो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें प्रसन्न रहे, उसकी बुद्धि परमात्मामें बहुत जल्दी स्थिर होगी। कारण कि प्रतिकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता समताकी माता (जननी) है। अगर यह प्रसन्नता मिल जाय तो समझना चाहिये कि समताकी तो माँ मिल गयी और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी दादी मिल गयी। दादी कह दो या नानी कह दो।

प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें भगवान्‌की बड़ी विचित्र कृपा है, मुख्य कृपा है; परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि आप प्रतिकूलताकी चाहना करें। चाहना तो अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनोंकी ही नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत भगवान् जो परिस्थिति भेजें, उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। हमारा सम्बन्ध तो भगवान्‌के साथ है, परिस्थितिके साथ नहीं। यदि भगवान् प्रतिकूलता भेजें तो समझना चाहिये कि उनकी बहुत कृपा है।

उन्होंने अनुकूलताका राग मिटानेके लिये प्रतिकूलता भेजी है। वाल्मीकिरामायणके अरण्यकाण्डमें आया है—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

(३७।२)

संसारमें प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो बहुत मिलेंगे, पर जो अप्रिय होनेपर भी हितकारी हो, ऐसी बात कहने और सुननेवाले दुर्लभ हैं। एक मारवाड़ी कहावत है—'**सती देवे, संतोषी पावे। जाकी वासना तीन लोकमें जावे॥**' भिक्षा देनेवाली सती-साध्वी स्त्री हो और भिक्षा लेनेवाला संतोषी हो तो उसकी सुगन्ध तीनों लोकोंमें फैलती है। ऐसे ही देनेवाले भगवान् हों और लेनेवाला भक्त हो अर्थात् भगवान् विशेष कृपा करके प्रतिकूलता भेजें और भक्त उस प्रतिकूलताको स्वीकार करके मस्त हो जाय तो इसका असर संसारमात्रपर पड़ता है।

दुःखके समान उपकारी कोई नहीं है; किंतु मुश्किल यह है कि दुःखका प्रत्युपकार कोई कर नहीं सकता। उसके तो हम ऋणी ही बने रहेंगे; क्योंकि दुःख बेचारेकी अमरता नहीं है। वह बेचारा सदा नहीं रहता, हमारा उपकार करके मर जाता है। उसका तर्पण नहीं कर सकते, श्राद्ध नहीं कर सकते। उसके तो ऋणी ही रहेंगे। इसलिये दुःख आनेपर भगवान्‌की बड़ी कृपा माननी चाहिये। छोटा-बड़ा जो दुःख आये, उस समय नृत्य करना चाहिये कि बहुत ठीक हुआ। इस तत्त्वको समझनेवाले मनुष्य इतिहासमें बहुत कम हुए हैं। माता कुन्ती इसे समझती थीं, इसलिये वे भगवान्‌से वरदान माँगती हैं—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १।८।२५)

'हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे हमें पुनः संसारकी प्राप्ति न करानेवाले आपके दुर्लभ दर्शन मिलते रहें।' माता कुन्ती विपत्तिको अपना प्यारा सम्बन्धी समझती हैं; क्योंकि इससे भगवान्‌के दर्शन मिलते हैं। अतः विपत्ति भगवद्दर्शनकी माता हुई कि नहीं? इसलिये दुःख आना मनुष्यके लिये बहुत आनन्दकी बात है। दुःखमें प्रसन्न होना बहुत ऊँचा साधन है। इसके समान कोई साधन नहीं है।

यदि साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहे तो वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जाय—'**सुखदुःखे समे कृत्वा**' (गीता २। ३८)। सुखकी चाहना करते हैं, पर सुख मिलता नहीं और दुःखकी चाहना नहीं करते, पर दुःख मिल जाता है। अतः दुःखकी चाहना करनेसे दुःख नहीं मिलता, यह तो कृपासे ही मिलता है। सुखमें तो हमारी सम्मति रहती है, पर दुःखमें हमारी सम्मति नहीं रहती। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि रहती है, वह चीज अशुद्ध हो जाती है। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि नहीं है, वह चीज केवल भगवान्‌की शुद्ध कृपासे मिलती है। जो हमारे साथ द्वेष रखता है, हमें दुःख देता है, उसका उपकार हम कर नहीं सकते। हमारा उपकार वह स्वीकार नहीं करेगा। वह तो हमें दुःखी करके प्रसन्न हो जाता है। हमारे द्वारा बिना कोई चेष्टा किये दूसरा प्रसन्न हो जाय तो कितने आनन्दकी बात है। अतः आगेसे मनमें पक्का विचार कर लेना चाहिये कि हमें हर हालतमें प्रसन्न रहना है। चाहे अनुकूलता आये, चाहे प्रतिकूलता आये, उसमें हमें प्रसन्न रहना है; क्योंकि वह भगवान्‌का भेजा हुआ कृपापूर्ण प्रसाद है।

९. अन्त मति सो गति

मनुष्य यदि, प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करे तो उसको पीछे पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता। इसलिये हम जो कुछ करें, उसके विषयमें पहले विचार करना चाहिये। सबका अलग-अलग कर्तव्य होता है। कोई कुछ करता है तो कोई कुछ करता है। परन्तु यहाँ हम उस खास कामकी चर्चा करते हैं, जिसे सबको करना ही पड़ेगा अर्थात् सबको एक-न-एक दिन शरीर छोड़कर यहाँसे जाना ही पड़ेगा। बालक जन्मता है तो वह बड़ा होगा कि नहीं होगा, पढ़ेगा कि नहीं पढ़ेगा, विवाह करेगा कि नहीं करेगा, व्यापार आदि करेगा कि नहीं करेगा, उसकी सन्तान होगी कि नहीं होगी, वह धनी बनेगा कि नहीं बनेगा आदि सब बातोंमें सन्देह रहता है, पर वह मरेगा कि नहीं मरेगा—इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता अर्थात् वह मरेगा ही। अतः मरनेके बाद हमारी क्या गति होगी—इस विषयमें विचार करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके आरम्भमें ही अर्जुनने सात प्रश्न किये थे। उनमें सातवाँ प्रश्न था कि 'अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं?' उसके उत्तरमें भगवान्ने कहा—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

'जो मनुष्य अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

यह नियम केवल आपके लिये ही है क्या? इसपर भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

जीवकी गतियाँ

जीवकी गतियोंमें एक मुक्ति है, जिसको कल्याण, तत्त्वप्राप्ति, तत्त्वज्ञान आदि अनेक नामोंसे कहते हैं। इस मुक्तिके अनेक भेद माने गये हैं, उनमें दो मुख्य हैं—(१) जीवन्मुक्ति और (२) विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति का अर्थ है—जीते हुए मुक्त हो जाना।[१] अभी वर्तमान अवस्थामें प्राणोंके रहते हुए मुक्त हो जायँ—इस स्थितिका नाम जीवन्मुक्ति है। विदेहमुक्ति वह कहलाती है, जो मरनेके बाद होती है।[२] ये दो भेद निर्गुण तत्त्वको माननेवालोंके लिये बताये गये हैं। सगुण-साकार भगवान्‌को माननेवालोंकी मुक्ति पाँच तरहकी बतायी गयी है—सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। भगवान्‌के लोक (परमधाम)-में

१-मुक्ति वास्तवमें पहलेसे ही है, क्योंकि संसार विजातीय है और विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होता ही नहीं, केवल सम्बन्धकी मान्यता होती है। सम्बन्धकी मान्यता मिटते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है।

२-मृत्युके बाद विदेहमुक्ति होना लोगोंकी दृष्टिसे कहा जाता है। वास्तवमें जीवन्मुक्त होते ही मनुष्य विदेह (शरीरसे असंग) हो जाता है।

जाकर रहना 'सालोक्य मुक्ति' है। भगवद्धाममें भगवान्‌के समान ऐश्वर्य प्राप्त करना 'सार्ष्टि मुक्ति' है। भगवान्‌के समीप जाकर रहना 'सामीप्य मुक्ति' है। भगवान्‌के समान ही शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि धारण करके वैसे ही रूपसे साथमें रहना 'सारूप्य मुक्ति' है। भगवान्‌में ही अपनेको मिला देना, उनसे अभिन्न हो जाना 'सायुज्य मुक्ति' है। इनमेंसे भक्त जिस मुक्तिको चाहता है, उसको वही मुक्ति मिलती है। यह सब प्रकारकी मुक्तियाँ जीवकी ऊर्ध्वगतिके अन्तर्गत हैं। जीवकी मुख्य तीन गतियाँ होती हैं—ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति। गीतामें आया है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(१४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित मनुष्य मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं और निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं।'

ऊर्ध्वगतिमें जानेवालोंके दो भेद हैं—(१) ऊपरके लोकोंमें जाकर परमात्माको प्राप्त हो जाना, पीछे लौटकर नहीं आना* और (२) स्वर्गादि भोगभूमियोंमें जाकर अपने पुण्योंके अनुसार सुख भोगना और पुण्य क्षीण होनेपर पीछे लौटकर मृत्युलोकमें आना। मरकर पुनः मनुष्ययोनिमें जन्म लेना मध्यगति है। अधोगतिके दो भेद हैं—(१) चौरासी लाख योनियों (साँप, बिच्छू, सूकर आदि

* मनुष्य तीनों गुणोंसे अतीत होनेपर ही परमात्माको प्राप्त होता है—'स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते' (गीता १४। २६)। परन्तु यहाँ ऊर्ध्वगतिको सत्त्वगुणके अन्तर्गत इसलिये कहा गया है कि गीताका सत्त्वगुण केवल सांसारिक सुख देनेवाला ही नहीं है, प्रत्युत अविनाशी सुख (मुक्ति) देनेवाला भी है। इसलिये गीतामें सत्त्वगुणको

योनियों)-में जाना और (२) रौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें जाना। इस प्रकार पाँच गतियाँ हो गयीं—दो ऊर्ध्वगति, एक मध्यगति और दो अधोगति।*

अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति

अन्तकालीन चिन्तन और उसके अनुसार गतिको समझनेके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक आदमी अपना चित्र खिंचवानेके लिये बैठा। फोटोग्राफरने उससे कहा कि ठीक तरहसे बैठना, फोटो खिंचते समय कोई अंग न हिले। ज्यों ही चित्र खिंचनेका समय आया, त्यों ही उस आदमीकी नाकपर एक मक्खी आकर बैठ गयी। अब यदि हिल जाऊँगा तो चित्र बिगड़ जायगा—ऐसा विचार करके उसने मक्खीको हटानेके लिये नाकको सिकोड़ा। उतनेमें ही उसका चित्र खिंच गया। जब चित्रको धुलाईके बाद उसने देखा तो चित्र बिगड़ा हुआ मिला। चित्र देखकर वह बहुत नाराज हुआ और बोला कि तुमने मेरा चित्र बिगाड़ दिया! फोटोग्राफरने कहा कि इसमें मेरी क्या गलती है, चित्र खिंचते समय तुमने जैसी आकृति बनायी थी, वैसी ही चित्रमें आ गयी। अब इस चित्रमें परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी तरह मृत्युके समय मनुष्यके भीतर जैसा चिन्तन होगा, उसीके अनुसार उसको योनिकी प्राप्ति होगी। चित्र तो दूसरा भी खींचा जा

'अनामय' (निर्विकार) कहा गया है जो कि मुक्तिका वाचक है। परन्तु जब इसके साथ रागरूप रजोगुण मिल जाता है, तब (इससे होनेवाले सुख और ज्ञानका संग करनेसे) यह बन्धकारक हो जाता है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ (गीता १४।६)
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्। (गीता २।५१)

* द्रष्टव्य—गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-दर्पण' ग्रन्थका पचीसवाँ लेख—'गीतामें जीवकी गतियाँ।'

सकता है, पर योनि दूसरी बदली नहीं जा सकती। इसलिये मनुष्यको हर समय सावधान रहनेकी आवश्यकता है; क्योंकि मृत्युके समयका कोई पता नहीं, न जाने कब आ जाय। अत: कोई खराब चिन्तन आ जाय तो सावधान हो जायँ कि यदि इस समय मृत्यु हो जाती तो क्या गति होती? भगवान् कहते हैं—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' (गीता ८।७) अर्थात् तुम सब समय मेरा स्मरण करो। फिर कोई जोखिम नहीं रहेगी। जैसे जीवनबीमा हो जाता है तो फिर मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। मोटरका बीमा हो जाय तो उसमें टूट-फूट होनेपर कोई चिन्ता नहीं होती कि पैसे वापस मिल जायँगे। इसी तरह 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस तरह भगवान्‌के साथ अपनेपनकी घनिष्ठता हो जाय, भगवत्सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् हो जाय, और इसके बाद हर समय भगवान्‌का चिन्तन स्वत: होता रहे, करना न पड़े, तो समझो कि इस मानव-जीवनका बीमा हो गया। हम भगवान्‌के हो गये तो समझो हमने बीमाके पैसे जमा कर दिये और हरदम भगवान्‌का चिन्तन कर रहे हैं तो समझो दैनिक देय (किस्त) दे रहे हैं!

अन्तकालमें जैसा चिन्तन होता है, वैसी ही गति होती है, पर अन्तकालका पता नहीं कि कब आ जाय! अगर सब समयमें प्रभुका स्मरण होता रहे तो मृत्यु कभी भी आ जाय, कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि अब कोई खतरा नहीं रहा। जैसे भगवान्‌की प्राप्तिमें अन्तकालका स्मरण कारण है, ऐसे ही पशु-पक्षी आदि योनियोंकी प्राप्तिमें भी अन्तकालका स्मरण ही कारण है। जो अन्तसमयमें याद आ जायगा, उसीमें जाना पड़ेगा। बहुत-से लोग पशु-पक्षियोंको पालते हैं। जो कुत्ता पासमें रखता है, उसको

मृत्युसमयमें कुत्ता याद आ जायगा तो मरकर कुत्ता बनना ही पड़ेगा। जैसे कैमरेकी फिल्ममें सामनेवाली आकृति पकड़ी जाती है, ऐसे ही अन्तकालमें कुत्तेकी तरफ वृत्ति जानेपर वही आकृति पकड़ी जाती है और प्राणोंके साथ बाहर निकलती है। जब उस आकृतिके समान दूसरी आकृति सामने आती है, तब वह उसके द्वारा पकड़ी जाती है। अत: वह आकृति कुत्तेके द्वारा पकड़ी जाती है और कुत्तेके श्वासोंके द्वारा अथवा खाद्य पदार्थके द्वारा अथवा जलके द्वारा जीवका कुत्तेमें प्रवेश होता है। फिर वह गर्भाधानके द्वारा कुतियामें जाता है और गर्भ बनकर परिपक्व होनेपर जन्म लेता है। यह पहले खींचे गये चित्रका तैयार होकर सामने आना है! अब प्रश्न उठता है कि वह कुत्तेमें ही क्यों पकड़ा गया? जैसे, आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा जो शब्द फेंका जाता है, वह रेडियोके द्वारा पकड़ा जाता है। रेडियोमें अंक लिखे रहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि अमुक स्टेशनसे जो शब्द फेंका गया, वह इतनी गतिसे फेंका गया। वह शब्द वहाँसे बड़ी तेजीसे चलता है और पूरे विश्वमें चक्कर लगाता है। जिस गतिसे वह शब्द फेंका गया, उस गतिके अंकोंपर काँटा होनेसे वह शब्द रेडियोके द्वारा पकड़ा जाता है और बोलने लगता है। परन्तु जहाँ उस गतिके अंकोंपर काँटा नहीं होता, वहाँ वह शब्द चक्कर लगाते हुए भी पकड़ा नहीं जाता। तात्पर्य है कि वह शब्द सजातीयता होनेपर पकड़ा जाता है। ऐसे ही अन्तकालमें जिसका स्मरण करता हुआ यह प्राणी शरीर छोड़ता है, उसकी सजातीयता जिस प्राणीमें है, उस प्राणीमें वह पकड़ा जाता है। विजातीयतामें वह नहीं पकड़ा जाता।

प्राणोंका निष्कासन

जिस क्षण पिण्ड-प्राणका वियोग होता है, उस समय सब अंगोंसे प्राण संकुचित होते हैं। प्राण पाँच माने गये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।* इनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—ये बारह रहते हैं। इन सत्रह तत्त्वोंका सूक्ष्मशरीर माना जाता है। अभी हमारे सामने हाड़-मांसका जो शरीर दीखता है, यह स्थूलशरीर है। स्थूलशरीरके भीतर सूक्ष्मशरीर है और सूक्ष्मशरीरके भीतर कारणशरीर है। जाग्रत्-अवस्था स्थूलशरीरकी है। स्वप्नावस्था सूक्ष्मशरीरकी है। सुषुप्ति-अवस्था (गाढ़ नींद, जिसमें कुछ याद नहीं रहता) कारणशरीरकी है। हम चलते-फिरते हैं—यह स्थूलशरीरका काम है। हम सोचते हैं, मनन व चिन्तन करते हैं, विचार करते हैं, मनोराज्य कहते हैं—यह सूक्ष्मशरीरका काम है। हमारा जो स्वभाव है, आदत है, प्रकृति है—यह कारणशरीरमें है। स्थूलशरीरमें क्रिया मुख्य है, सूक्ष्मशरीरमें चिन्तन मुख्य है और कारण-शरीरमें स्थिरता मुख्य है। मृत्युके समय सूक्ष्मशरीर (जिसके भीतर कारणशरीर भी है) स्थूलशरीरसे विमुक्त होता है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये प्राणोंके भीतर रहते हैं। पहले सब अंगोंसे प्राण संकुचित होते हैं। इसलिये चलने-फिरनेकी शक्ति, लेने-देनेकी शक्ति, बोलनेकी शक्ति, सुननेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति आदि सब संकुचित होकर हृदयमें आती हैं। फिर वह सूक्ष्मशरीर प्राणवायुके द्वारा बाहर निकलता है। ऊर्ध्वगतिमें जानेवालोंके प्राण ऊपरके छिद्रों (कान, आँख, नाक,

---

* हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥

'प्राण हृदयमें, अपान गुदामें, समान नाभिमें, उदान कण्ठमें और व्यान सम्पूर्ण शरीरमें रहता है।'

मुख)-से निकलते हैं और अधोगतिमें जानेवालोंके प्राण नीचेके छिद्रोंसे निकलते हैं। योगाभ्यास, प्राणायाम करके जो प्राण छोड़ते हैं, उनके प्राण शब्दके साथ ब्रह्मरन्ध्र (दसवें द्वार)-से निकलते हैं।

कर्मफलका भोक्ता

हम यहाँ पाप अथवा पुण्य करते हैं, शुभ अथवा अशुभ करते हैं, किसीका हित अथवा अहित करते हैं तो इस शरीरसे और यहाँके पदार्थोंसे करते हैं। मृत्युके समय शरीर भी छूट जाता है और पदार्थ भी छूट जाते हैं, फिर अगले जन्ममें पाप-पुण्यका फल किसको मिलता है? अगर हाथोंसे किसी मनुष्यकी हत्या की है तो उसका दण्ड भी इन्हीं हाथोंको मिलना चाहिये, पर ये तो मरकर खाक हो गये, अब दण्ड किसको मिलेगा? इसपर विचार करें। जैसे, कोई आदमी मोटर चला रहा है और गलतीसे कोई मनुष्य मोटरके नीचे आकर मर गया। उस मरनेवाले मनुष्यको ड्राइवरने छुआ ही नहीं, पर दण्ड ड्राइवरको ही होगा, मोटरको नहीं। यदि कहा जाय कि दण्ड ड्राइवरको ही होनेका नियम है तो उस दुर्घटनाके समय एक ड्राइवर फुटपाथपर खड़ा था, क्या उसको दण्ड होगा? उसको दण्ड नहीं होगा; क्योंकि वह मोटरमें नहीं था। यदि मोटरमें बैठे हुए ड्राइवरको दण्ड होता है, तो मोटरके ड्राइवरके पास दूसरा भी ड्राइवर बैठा था, क्या उसको दण्ड होगा? उसको भी दण्ड नहीं होगा; क्योंकि वह मोटरमें तो था, पर मोटर चला नहीं रहा था। अतः दण्ड मोटर चलानेवाले ड्राइवरको ही होगा। ऐसे ही इस शरीरके द्वारा किसीकी हत्या की, चोरी की, अण्डे-मांसादि महान् अपवित्र चीजोंका सेवन किया तो इन पापोंका दण्ड उसको होगा, जो इस शरीरका संचालक बना हुआ

है। जो इस शरीरको 'मैं' और 'मेरा' कहता है, इस शरीरका मालिक बना हुआ है, उसको दण्ड होगा।

यह शरीर मोटरकी तरह है, एक रहनेकी जगह है। यह शरीर 'मैं' नहीं है। हरेक मनुष्य शरीरको 'मेरा' कहता है; जैसे—हाथ मेरा, पाँव मेरा, कान-नाक-जीभ मेरी, सीना मेरा, पीठ मेरी, पेट मेरा, गर्दन मेरी, मस्तक मेरा, रक्त मेरा आदि-आदि। जो 'मेरा' कहनेवाला होता है, वह 'मैं' से अलग होता है। शरीर मैं नहीं हूँ, प्रत्युत शरीर मेरा है। पर भूलसे कह देते हैं कि शरीर मैं हूँ। विचार करें, जब एक-एक अंग मैं नहीं, फिर पूरा मिला हुआ मैं कैसे! सेरभर चावल हों तो उसका एक-एक दाना तो है चावल और जब मिलकर एक सेर हो जायँ तो हो जाय गेहूँ, क्या ऐसा हो सकता है? नहीं हो सकता। इसलिये शरीर मैं नहीं है, पर भूलसे इसको मैं मान लेते हैं। शरीर तो यहीं पड़ा रहता है और इसको 'मैं' और 'मेरा' कहनेवाला चल देता है और पाप-पुण्यका फल भोगता है।

तात्पर्य यह हुआ कि जो कर्म करता है, वही कर्मका भोक्ता बनता है। कर्ता और भोक्ता क्या चीज है? इसपर विचार करें। हम मोटरमें बैठकर कहीं गये। वहाँ किसीने हमसे पूछा कि कैसे आये? तो हमने कहा कि हम मोटरसे आये। मोटर हमें वहाँ ले गयी। यदि हम मोटरमें ड्राइवरको न बैठायें तो क्या मोटर हमें वहाँ ले जायगी? नहीं ले जा सकती। ड्राइवर हमें वहाँ ले जाता है। अगर हम कहीं बैठ जायँ और ड्राइवरको भी बैठा दें और कहें कि आप हमें अमुक जगह ले चलिये तो क्या वह हमें वहाँ ले जा सकता है? नहीं ले जा सकता। हमें वहाँ न तो केवल ड्राइवर

ले जा सकता है, न केवल मोटर ले जा सकती है। वहाँ ले जानेकी क्रिया न तो केवल ड्राइवरसे होती है, न केवल मोटरसे होती है, प्रत्युत जब दोनों मिलते हैं, तब क्रिया होती है। जब चालक होता है, तब यन्त्र चलता है। अगर चालक न हो तो यन्त्र नहीं चल सकता। ऐसे ही जब जीवात्मा स्थूलशरीरका संचालन करता है, तब इससे कार्य होते हैं। शरीरके बिना जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता और जीवात्माके बिना शरीर कुछ नहीं कर सकता। अतः दोनोंके संयोगसे क्रिया होती है। जो करता है, वही भोगता है।

क्रिया करनेमें शरीरकी प्रधानता होती है और फल भोगनेमें जीवात्माकी प्रधानता होती है। जैसे, मोटरके द्वारा किसी मनुष्यकी मृत्यु हुई तो उसको छूकर मारनेमें मोटरकी मुख्यता रहती है और दण्ड भोगनेमें ड्राइवरकी मुख्यता रहती है। ड्राइवरके संयोगसे मोटर मारती है और मोटरके संयोगसे ड्राइवर दण्ड भोगता है। अतः कर्तापन और भोक्तापन दोनोंमें शरीर और जीवात्मा दोनोंका संयोग रहता है। मनुष्य जो पाप करता है, अन्यायपूर्वक, धोखा देकर, झूठ-कपट करके, बेईमानी करके धन कमाता है, वह धन तो मरनेपर यहीं रह जाता है और भीतर जमा किया हुआ पाप, झूठ-कपट, बेईमानी, जालसाजी साथमें चलती है। धन एक कौड़ी भी साथ चलेगा नहीं और जो भाव बिगड़े हैं, वे एक कौड़ी भी पीछे रहेंगे नहीं। आगे (परलोकमें) उनका महान् भयंकर दण्ड भोगना ही पड़ेगा। यहीं रह जानेवाली चीजोंके लिये मनुष्य साथमें चलनेवाले भावोंको बिगाड़ लेता है और कहलाता है कि बड़ा बुद्धिमान् है! कितना काम कर लिया! थोड़े दिनोंमें लखपति बन गया! परन्तु साथ चलनेवाली पूँजीको

महान् बिगाड़ लिया! अगर यही बुद्धिमानी है तो मूर्खता किसका नाम धरें? यहीं छूट जानेवाली चीजोंके लिये साथमें चलनेवाली चीजें बिगाड़ लें—ऐसा अन्धेर हमारे भारतवर्षमें नहीं था!

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥

(मानस, अयोध्या० ९५। २)

राजा शिबिने शरणागतकी रक्षाके लिये पहले अपने शरीरसे मांस काटकर दिया और फिर पूरा शरीर ही दे दिया। दधीचि ऋषिने अपनी हड्डियाँ दे दीं। राजा हरिश्चन्द्रने अपना राज्य दे दिया। परन्तु उन्होंने अपने भीतरके भावोंका नाश नहीं होने दिया। जो चीजें साथमें नहीं रहतीं, उन नाशवान् चीजोंको दूसरोंके हितमें लगाकर उन्होंने साथमें चलनेवाली बढ़िया पूँजी संगृहीत कर ली। वे बड़े चतुर और समझदार रहे; क्योंकि उन्होंने छूटनेवाली चीजको छोड़ दिया और साथमें रहनेवाली चीजका नाश नहीं होने दिया।

भीतरी भावोंका सुधार

आजकल लोग भीतरकी चीजोंके बिगड़नेकी परवाह नहीं करते। भीतरसे चाहे कितने ही काले हों, पर बाहरकी इज्जत, आबरू, पोजीशन ठीक बनी रहे, समाजमें अच्छे कहलाते रहें! कोई उनके दोषोंकी तरफ दृष्टि करे, उनसे पूछे कि आप कैसे हैं, तो वे कहते हैं कि यह हमारा व्यक्तिगत जीवन है। यदि व्यक्तिगत जीवन बिगड़ेगा तो समाज कैसे अच्छा रहेगा? समाज भी पूरा-का-पूरा बिगड़ जायगा; क्योंकि व्यक्तियोंसे ही समाज बनता है। अतः व्यक्तिगत सुधारसे ही समाजका सुधार हो सकता है। भीतरके भाव न सुधारकर बाहरके सुधारकी बड़ी-बड़ी बातें बनायें, व्याख्यान दें और लोग भी प्रमाणपत्र दे दें कि बहुत अच्छा है, तो इससे क्या लाभ हुआ?

तुलसी सो नर चतुर है, राम भजन लवलीन।
परधन परमन हरणको, वेश्या भी परवीन॥

वास्तवमें चतुर वही है, जो भजन कर ले, अपने भावको शुद्ध बना ले, अपनी आदत अच्छी बना ले। यदि भीतरके भावको गन्दा कर लें, और बाहरसे वाहवाही ले लें, धनका संग्रह कर लें तो ऐसा करनेमें वेश्या भी प्रवीण होती है! हम तो किसीको कोई वस्तु दिये बिना उससे रुपया नहीं ले सकते, पर वेश्या मुफ्तमें रुपया ले लेती है। हम किसीका मन भी अपनी तरफ खींचेंगे तो कोई तमाशा दिखायेंगे, गाना-बजाना आदि करेंगे, तब लोगोंसे वाहवाही लेंगे, पर वेश्याको इतनी मेहनत भी नहीं करनी पड़ती। अतः हम ज्यादा-से-ज्यादा मेहनत करेंगे तो वेश्याके समान बन जायँगे, और क्या होगा? इसमें हमारी इज्जत नहीं है। हमारी वास्तविक इज्जत इसीमें है कि हम भीतरसे शुद्ध बन जायँ। समाजमें लोग चाहे हमें अच्छा न मानें अथवा अच्छा न जानें अथवा अच्छा न कहें, पर हमारे भाव अगर अच्छे हैं तो हमारे चित्तमें हर समय आनन्द रहेगा, प्रसन्नता रहेगी और मरनेपर सद्गति होगी। समाज हमें अच्छा ही कहे—यह हमारे हाथकी बात नहीं है। समाज हमें अच्छा भी कहेगा और बुरा भी कहेगा। पर हम अच्छे बन जायँ, बुरे न बनें—यह हमारे हाथकी बात है। वास्तवमें जो चीज सच्ची होती है, वह छिपती नहीं, प्रकट हो ही जाती है। सन्तोंने कहा है—

भजन करे पाताल में, प्रगट होय आकाश।
दाबी-दूबी ना रहे, कस्तूरी की बास॥

कस्तूरीकी सुगन्धको कोई सौगन्ध दिला दे कि बाहर मत आना, तो भी डिबिया खोलते ही वह बाहर फैल जाती है। ऐसे

ही हम अपने भावोंको थोड़े दिन दबा सकते हैं, पर वे दुनियामें प्रकट हो ही जाते हैं। थोड़ी सूक्ष्म बुद्धिवाले उनको विशेष पहचान लेते हैं।

भावके अनुसार गति

यदि हमें आगे अच्छी गतिमें जाना है जो हमें अपने भावोंको शुद्ध बनाना होगा। हमारे भाव, आदत, स्वभाव अच्छे बन जायँ तो हम नीची गतिमें नहीं जा सकते। जिस व्यक्तिमें दया व क्षमा है, शान्ति व प्रसन्नता है, उसको यदि बिच्छू अथवा साँप बनाया जाय तो वह बिच्छू अथवा साँपका, क्रूरताका काम कर ही नहीं सकेगा। जो आदमी दूसरेको दुःख देता है, बिना कारण कष्ट देता है, अपने स्वार्थके लिये दूसरेका नुकसान कर देता है, ऐसे आदमी ही बिच्छू, साँप आदि योनियोंमें, अधोगतिमें जाते हैं। जो समाजमें अपनेको अच्छा दिखाता है, चुपचाप रहता है, पर मौका पड़नेपर आँख बचाकर दूसरेको लूट लेता है, ऐसे स्वभाववाला ही बिल्ली बनता है। जैसे, बिल्ली आँख मीचकर चुपचाप बैठी रहती है और जब देखती है कि मलाई पड़ी है और कोई नहीं है तो फट छापा मारती है; क्योंकि यह उसकी आदत (स्वभाव) है। यह आदत मनुष्यजन्ममें बनायी हुई है। जीव मनुष्यजन्ममें स्वभाव बदलता है और भगवान् उसका चोला (शरीर) बदलते हैं। नाटकमें भी स्वाँग उसीको दिया जाता है जो स्वाँग ठीक भर सके। भेड़-बकरी चरानेवालेको प्रधानाध्यापक नहीं बनाया जाता। जो सबको पढ़ा सकता है, ऐसी योग्यतावालेको प्रधानाध्यापक बनाया जाता है। अतः जो मनुष्य अपना स्वभाव सौम्य, शान्त, शुद्ध बना लेता है, उसकी अधोगति हो ही नहीं सकती। कारण कि उसका भाव हर समय शुद्ध है तो अन्तकालमें भी

शुद्ध रहेगा। अन्तकालके भावके अनुसार उसकी गति होगी। वह किसी योनिमें भी जायगा तो वहाँ भी उसका भाव वैसा ही शुद्ध रहेगा।

श्रीमद्‌भागवतमें एक कथा आती है। महाराज भरत भारतवर्षके बहुत बड़े राजा थे। अपने जीवनके अन्तिम भागमें वे सब कुछ छोड़कर पुलहाश्रममें चले गये और भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लग गये। एक दिन जब वे स्नान करनेके लिये गण्डकी नदीमें गये तो उन्होंने देखा कि एक गर्भवती हरिणी जल पीनेके लिये नदीके तटपर आयी। वह ज्यों ही जल पीने लगी, त्यों ही पीछेसे सिंहकी भयंकर गर्जना सुनायी पड़ी। इससे बेचारी हरिणी डर गयी और उसने नदी पार करनेके लिये छलाँग मारी। छलाँग मारते ही उसका गर्भ नदीमें गिर गया। वह हरिणी आगे जाकर मर गयी। भरतजीने देखा कि हरिणीका बच्चा बिना माताका हो गया, अब उसकी रक्षा कौन करे? उनको दया आ गयी और उन्होंने उस बच्चेको उठा लिया तथा अपने आश्रमपर ले आये। उस बच्चेको फलों आदिका रस देते हुए धीरे-धीरे घास खाना सिखा दिया और हरदम उसका पालन-पोषण करने लगे। जैसे माँ-बापका अपने बच्चेमें मोह होता है, ऐसे ही भरतजीका उस बच्चेमें मोह हो गया। हरिणीका वह बच्चा खेलता, फुदकता, सींग मारता, खुजली करता तो बाबाजीको बड़ा आनन्द आता! वे रात-दिन उसके पालन-पोषणकी चिन्तामें ही डूबे रहते। कभी वह दिखायी नहीं देता तो वे उसके लिये बड़े व्याकुल हो जाते। इस प्रकार दिन बीतते गये और एक दिन बाबाजीका अन्तसमय आ पहुँचा। अन्तकालमें भी उस हरिणका चिन्तन होनेसे वे मरकर हरिण बन गये।

जिसका स्वभाव शुद्ध बन जाता है, वह नीची गतिमें नहीं जा सकता। भरतजीका स्वभाव तो शुद्ध ही था, भोगोंका त्याग करके

वनमें रहते थे और तपश्चर्या करते थे, फिर वे अधोगतिमें कैसे गये? इसका समाधान यह है कि हरिणका शरीर मिलना अधोगति नहीं है। अधोगति है—भीतरके भावोंका गिरना। इसलिये हरिणके जन्ममें भी भरतजीको पूर्वजन्मकी याद रही। वहाँ वे हरी घास न खाकर सूखे पत्ते खाते रहे। वैराग्यके कारण वे अपनी माता हरिणीके भी साथ नहीं रहे कि कहीं मोह हो गया तो पुनः हरिणीके गर्भसे जन्म लेना पड़ेगा। हरिणके जन्ममें भी उनमें इतनी सावधानी रही, जो मनुष्योंमें भी बहुत कम रहती है। उनमें त्यागका शुद्ध भाव रहा। शुद्ध भाव रहनेसे हरिणका शरीर मिलनेपर भी उनकी अधोगति नहीं हुई। वहाँसे मरकर उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणके घरमें जन्म लिया। वहाँ उनका नाम 'जड़ भरत' हुआ। किसीका संग, मोह न हो जाय, कहीं फँस न जायँ—ऐसी सावधानी रखनेके कारण वे 'जड़' कहलाये।

तात्पर्य है कि किया हुआ भजन, स्मरण, तपश्चर्या व्यर्थ नहीं जाती और अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गतिका कानून भी व्यर्थ नहीं जाता। अतः हमें कर्म करते हुए भी सावधान रहना है और चिन्तन भी भगवान्‌का करते रहना है। यह मनुष्यके लिये बड़ी खास बात है। अन्य योनियोंमें हम कर्म और चिन्तनको नहीं बदल सकते। पशु-पक्षियोंके स्वभावको बदलकर उनको अध्यात्म-मार्गमें नहीं ला सकते। उनके स्वभावके अनुसार उनको शिक्षा दे सकते हैं, पर तुम ऐसे कर्म करो, ऐसा चिन्तन करो जिससे मुक्ति हो जाय—यह शिक्षा नहीं दे सकते। यह अधिकार इस मानव-जन्ममें ही है।* अगर

* पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भगवान्‌की ओर चलनेकी योग्यता नहीं है, फिर भी (अपवाद रूपसे) पूर्वजन्मके संस्कारसे अथवा अन्य किसी कारणसे वे भी भगवान्‌के सम्मुख हो सकते हैं। कारण कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमात्रका भगवान्‌के साथ समान सम्बन्ध है; अतः भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) कोई मनाही नहीं है। इसलिये पशु-पक्षियोंमें भी गजेन्द्र, जटायु, काकभुशुण्डि आदि अनेक भगवद्भक्त हो चुके हैं।

हमने अपना स्वभाव अशुद्ध बना लिया, अपनी आदत बिगाड़ ली, तो फिर अधोगति असम्भव नहीं है! इसलिये—

डरते रहो यह जिन्दगी बेकार न हो जाय,
सपनेमें किसी जीवका अपकार न हो जाय।

अधोगतिसे बचनेके लिये दो खास बातें हैं— (१) दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा करना और (२) भगवान्‌को याद करना। यह काम मनुष्य ही कर सकता है और इसीमें उसकी मनुष्यता सिद्ध होती है। जो दूसरोंका अनिष्ट करता है, वह वास्तवमें अपना ही महान् अनिष्ट करता है और जो दूसरोंको सुख पहुँचाता है, वह वास्तवमें अपनेको ही सुखी बनाता है। अपना बिगाड़ किये बिना कोई दूसरेका बिगाड़ कर ही नहीं सकता। जैसे, मनुष्य पहले चोर बनता है, पीछे चोरी करता है। चोरी करनेपर माल हाथ लगे अथवा न लगे, पर वह खुद चोर बन ही जाता है अर्थात् उसके भीतर चोरपनेका भाव (मैं चोर हूँ) आ ही जाता है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है। थोड़ी भी असावधानी परलोकमें हमारी दुर्गतिका कारण बन सकती है। अभी मनुष्यशरीर हमें प्राप्त है। अतः शरीरके रहते-रहते ऐसा काम कर लेना चाहिये, जिससे कोई जोखिम न रहे अर्थात् कभी भी मृत्यु आ जाय तो कम-से-कम अधोगतिमें न जाना पड़े। हरदम सावधान रहनेवाला दुर्गतिमें कैसे जा सकता है? इसलिये हमें बड़ी सावधानीसे अपना जीवन बिताना चाहिये और दूसरोंके हितके लिये कर्तव्यकर्म करते हुए हर समय भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहना चाहिये।

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)	1308	प्रेरक कहानियाँ
1675	सागरके मोती	1408	सब साधनोंका सार
1598	सत्संगके फूल	411	साधन और साध्य
1633	एक संतकी वसीयत	412	तात्त्विक प्रवचन
400	कल्याण-पथ	414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
401	मानसमें नाम-वन्दना	410	जीवनोपयोगी प्रवचन
605	जित देखूँ तित तू	822	अमृत-बिन्दु
406	भगवत्प्राप्ति सहज है	821	किसान और गाय
535	सुन्दर समाजका निर्माण	417	भगवन्नाम
1485	ज्ञानके दीप जले	416	जीवनका सत्य
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये	418	साधकोंके प्रति
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला	419	सत्संगकी विलक्षणता
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल	545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
403	जीवनका कर्तव्य	420	मातृशक्तिका घोर अपमान
436	कल्याणकारी प्रवचन	421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
405	नित्ययोगकी प्राप्ति	422	कर्मरहस्य
1093	आदर्श कहानियाँ	424	वासुदेवः सर्वम्
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	425	अच्छे बनो
408	भगवान्‌से अपनापन	426	सत्संगका प्रसाद
861	सत्संग-मुक्ताहार	1733	संत-समागम
860	मुक्तिमें सबका अधिकार	1019	सत्यकी खोज
409	वास्तविक सुख	1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	433	सहज साधना
1360	तू-ही-तू	444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना
1434	एक नयी बात	435	आवश्यक शिक्षा
1440	परम पितासे प्रार्थना	1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?
1441	संसारका असर कैसे छूटे?	515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन
1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......	438	दुर्गतिसे बचो
431	स्वाधीन कैसे बनें?	439	महापापसे बचो
702	यह विकास है या...	440	सच्चा गुरु कौन?
589	भगवान् और उनकी भक्ति	729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	445	हम ईश्वरको क्यों मानें?
434	शरणागति	745	भगवत्तत्त्व
770	अमरताकी ओर	632	सब जग ईश्वररूप है
432	एकै साधे सब सधै	447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा
427	गृहस्थमें कैसे रहें?		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य	142	चेतावनी-पद-संग्रह
207	रामस्तवराज—(सटीक)	144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्	1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र	1214	मानस-स्तुति-संग्रह
231	रामरक्षास्तोत्रम्	1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह	1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	208	सीतारामभजन
054	भजन-संग्रह		